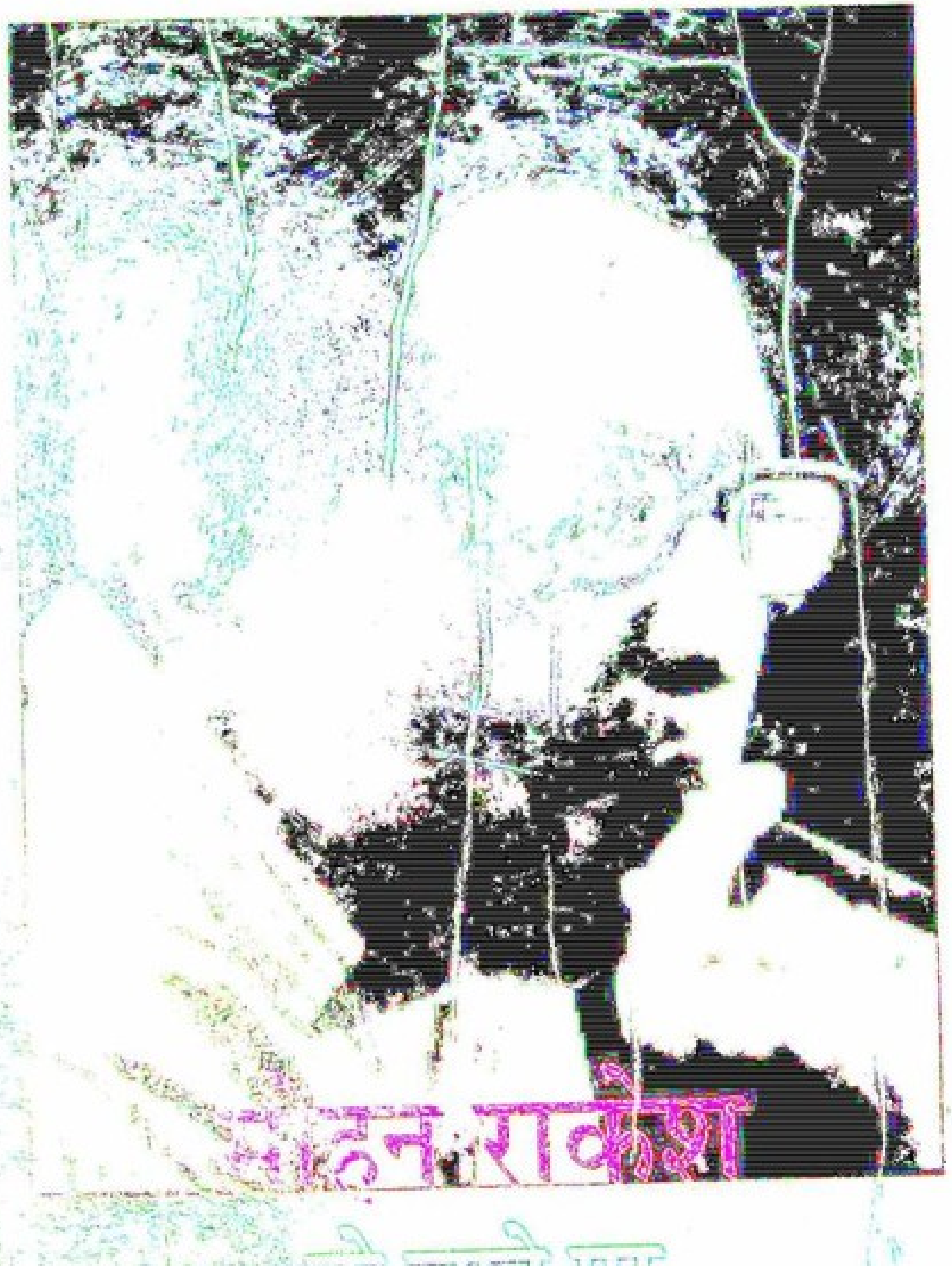


मोहन राकेश

के जाने पर

दोस्तों की यादें

सं० : कमलेश्वर

मोहन राकेश के जाने पर दोस्तों की यादें

संपादक
कमलेश्वर

प्रकाशक
किताबघर प्रकाशन
4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
फोन : 23266207, 30180011 फैक्स : 23271844

E-mail : kitabghar_prk@yahoo.com
kitabgharprakashan@gmail.com

प्रथम संस्करण : 2013

मूल्य : दो सौ रुपये

मुद्रक : बी०के० ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

MOHAN RAKESH KE JAANE PAR
DOSTON KI YADEIN (Hindi)
Ed. by Kamleshwar
Price : Rs. 200.00

ISBN—978-93-82114-22-2

क्रम

यादों के एकांत क्षण

अनीता

वह चहक रही थी, वह देख रहा था। देख रहा था कि जिंदगी बिलकुल अर्थहीन नहीं है। जिस जिंदगी को वह ढो रहा था, उससे अलग हटकर बहुत कुछ है। उसने प्रस्ताव किया। प्रस्ताव से आसपास तूफान उठा—ऐसा तूफान, जो शायद थमता न था। इसीलिए तूफान के दौरान ही एक और जिंदगी के लिए फैसले ले लिए गए।

'तुम शायद खुद कुछ नहीं कहना चाहते क्योंकि तुम समझते हो कि कहकर आदमी छोटा हो जाता है।'

जवाब आया—'आज सिर्फ दो ही पन्ने टाइप किए : पहले पर लिखा था—'लहरों के राजहंस' और दूसरे पर 'उस एक को, जिसे लगता है कि मन की बात कहने से आदमी छोटा हो जाता है।'

तूफान थम चुका था। एक नई जिंदगी की शुरुआत हो चुकी थी।

'मैं तुमसे एक बात कहना चाहता हूं।'

'कहो।'

'तुम्हारा स्थान तीसरा है।'

'सो तो मैं जानती हूं।'

'नहीं, जो तुम सोच रही हो, मेरा मतलब उससे नहीं है। मेरा मतलब है—पहले नंबर पर मेरा लेखन है, दूसरे नंबर पर मेरे दोस्त हैं और तीसरे नंबर पर तुम हो लेकिन तीनों ही मेरे लिए बहुत जरूरी हैं।'

इतने करीब कि सांसें उभरकर आ रही थीं। एकाएक सवाल आया—'क्या तुम सांस नहीं ले रही हो?'

'ले तो रही हूं।'

'लेकिन आवाज क्यों नहीं आ रही?'

सांसें शायद मिल चुकी थीं।

इनसान को सबसे पहले अपने प्रति ईमानदार होना चाहिए। क्या तुम उन लोगों का अंदाजा लगा सकती हो, जो लोग आईने के सामने खड़े होकर अपने से ही बचते रहते हैं?

ठीक है कि तुम मेरे दोस्त हो। तुम अगर किसी का खून करके भी मेरे पास आओगे, तो मेरे दरवाजे तुम्हारे लिए खुले हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि मैं तुमसे सहमत हूं।

मैंने जिंदगी में जिस-जिस से शादी करनी चाही, नहीं कर सका, और जिन-जिन से नहीं करनी चाही, उन-उन से हुई।

वह मुंह बाए उसकी तरफ देखती रही।

'क्यों! तुमसे भी तो शादी नहीं कर पाया!'

चारपाई पर लेटे हुए आकाश की तरफ टकटकी लगाए काफी देर तक देखने के बाद एकाएक उदास होकर बोले—"इतने बड़े ब्रह्मांड में सैकड़ों नक्षत्रों के बीच आदमी का अस्तित्व सिर्फ एक छोटे से बिंदु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं—और उस बिंदु का इतने बड़े ब्रह्मांड के बीच कुछ भी अस्तित्व नहीं।"

यात्रा पर निकलने के समय उनका मन बहुत उदास होता था। इसीलिए वह कभी पसंद नहीं करते थे कि उन्हें कभी कोई सी-ऑफ करने आए। अंतिम यात्रा भी कुछ इस तरह से हुई कि न तो उनका मन ही उदास हुआ और न ही कोई उन्हें सी-ऑफ कर सका!

यादों की अदालत

जवाहर चौधरी

उसने एक दिन अचानक सच बोला था'''अम्मा (राकेश की माताजी) के देहांत के तीन-चार दिन बाद, अगस्त की एक शाम'''देख जवाहर, अम्मा अगर उसी रात को ही एक बार मर जातीं तो भी सब्र कर लेता। लेकिन मेरे लिए उनका हर रात, उसी वक्त, उसी तरह रोज-रोज मरना, मैं सहन नहीं कर पाऊंगा'''।'

और लगभग चार महीने बाद उसका यह सच मेरी जिंदगी के सबसे बड़े हादसे और गहरे सदमे में बदल गया। मलाल रहेगा कि वह एक बार भी मुझसे झूठ बोलकर न गया।

मैं यह नहीं जानता कि राकेश कितना बड़ा लेखक है। मेरा उसके लेखक से कभी सीधा संबंध रहा भी नहीं। मगर इतना जरूर कह सकता हूं कि लेखन उसका पहला कमिटमेंट था। वह अपने लेखक के लिए कुछ भी, एकदम झटके से तोड़ सकता था, छोड़ सकता था।

दोस्त राकेश का दूसरा 'कमिटमेंट' रहे हैं; वे, जिन्हें वह दोस्त मानता औ समझता था। ऐसे दोस्तों से ही वह आनंद बटोरता था। दोस्ती की परिभाषा उसकी अपनी थी—सौ फीसदी देना और सौ फीसदी लेना। इस मामले में वह कभी कंजूस नहीं रहा; और न ही उसने किसी दोस्त की कंजूसी बर्दाश्त की। किसी दोस्त दोस्ती के किसी पहलू पर 'बचत योजना' का आभास भर उसे मिला कि वह पठा की तरह उस पर वसूलने के लिए चढ़ दौड़ा। इस मामले में वह बहुत ही सख्त था इस दृष्टि से उसके सभी दोस्त अपने को कंगाल अनुभव करते रहेंगे। वसूलने वाल ही नहीं रहा।

खाने के मामलों में वह शौकीन था। लेकिन खाना खाने का उसका सिस्ट बड़ा अजीब था। जो चीज पहले परोस दी जाती, वह उसको खाना शुरू कर देत मसलन अगर अचार पहले आ गया है तो अचार खाना शुरू कर देता; सब्जी पह आ गई है तो रोटी के आने तक सब्जी हो सकता है साफ ही हो जाए। उसकी

आदत के कारण एक बार मैंने उसे हरी मिर्च खाकर 'हाय हाय' करते भी देखा है।

एक बार राकेश ने इच्छा प्रकट की कि हर सनीचर को पुरानी दिल्ली के गली-मुहल्लों और कूचों में घूमा जाए और वहां की जिंदगी को करीब से देखा जाए। हम दोनों तीन-चार बार इसी उद्देश्य से रात को बारह-एक बजे तक दिल्ली की गलियों-कूचों में घूमते रहे। चांदनी चौक में श्रद्धानंद के बुत के नीचे सड़क पर रोटी और खोमचे वालों की दुकानें थीं। जब उनके सामने हम पहुंचे तो मैंने राकेश से मजाक में जिक्र कर दिया कि मैंने कम्युनिस्ट पार्टी के फुलटाइमरशिप के दौर में कई बार वहां रोटी खाई है। बस क्या था, राकेश ने जिद पकड़ ली—'यार आज यहीं रोटी खाएंगे।'

हम दोनों ने मोटी और चौड़ी रोटियों पर कढ़ी और सब्जी रखवाकर रोटी खाई। आठ आने में हम दोनों का पेट भर गया। इसके बाद राकेश अकसर वहां की याद करके वहीं खाने का प्रोग्राम बनाने की सोचा करता था, हालांकि ऐसा मौका फिर कभी नहीं मिल सका।

अचानक एक दिन नौकर ने दरवाजा खटखटाया, चिट्ठी दी और बोला—'बाबूजी ने आपको बुलाया है।'

मैं पहुंचा तो उसने टाइप किया हुआ एक कागज मेरे सामने रख दिया। और कहा कि इस पर दस्तखत कर दे। मैंने दस्तखत कर दिए। उसने कहा—'पता भी लिख दे।' मैंने पता भी लिख दिया। इतने में वह बहुत जोर का ठहाका मारकर हंसा। मैंने कहा—'मतलब?'

बोला—'मैं कहता था न, कि चौधरी कितना बेवकूफ है!'

मैं बहुत गरम हो गया—'इस बकवास का मतलब क्या है?'

'तूने यह भी नहीं देखा कि यह है क्या? बस दस्तखत कर दिए।'

'मोहन राकेश जवाहर चौधरी से कहीं दस्तखत करने को कहे और जवाहर चौधरी सवाल करे कि तू दस्तखत काहे पै करा रहा है? तेरा दिमाग तो नहीं खराब हो गया!'

मेरे मिजाज को गरम देखकर उसका ठहाका जरा नरम हुआ। फिर चेहरे पर एक मुस्कान खेली और संजीदा होकर बोला—'यह मेरी वसीयत है। इसलिए कह रहा था कि इसको एक बार पढ़ ले।'

वसीयत के नाम से मैं चौंका—'वसीयत? कैसी वसीयत? तुझे वसीयत लिखने की क्या जरूरत पड़ गई?'

'जरूरत तो कुछ नहीं। लेकिन अकसर तू गालिब के शे'र का एक टुकड़ा जड़

दिया करता था न, 'मौत का एक दिन मुअय्यन है'—तो मैंने सोचा जब मौत क दिन मुअय्यन ही है तो लगे हाथ इस काम को भी कर डालना चाहिए।' और मैं पहल बार उसके चेहरे की तरफ देखकर अजीब तरह के डर से सहम गया था।

कुछ दिन पहले राकेश ने मेरे साथ बैठकर 75 साल की उम्र तक का प्रोग्रा बनाया था। 65 वर्ष तक लिखना और इसके बाद 10 वर्ष तफरीह के!

पिछली दीवाली से अगले दिन राकेश का पैगाम मिला। मैंने फौरन फोन कि तो बोला—'चौधरी, देख तू फौरन चला आ। ताश खेलेंगे।' मैं पहुंचा तो राकेश अ अनीता दोस्तों के आने की राह देख रहे थे। ताश का जिक्र आया तो बोला—'या मुझे तुझसे बड़ी शिकायत है। तू बहुत ही यकसा खेल खेलता है। ब्लाइंड की ह होती है। मैं 'ईवननेस' बर्दाश्त नहीं कर सकता। मैं हमेशा 'अनईवन' रहना चाह हूं। 'अनईवननेस' में ही सस्पेंस है, थ्रिल है, मजा है।'

अब रह-रहकर सोचा करता हूं कि क्या उसकी मौत भी उसकी जिंदगी की त अनईवन नहीं रही?

राकेश की आत्मा को···

गिरधारीलाल वैद

राकेश,

जब मैं आया, तो तुम सो रहे थे। सुबह नौ-सवा नौ तक तो तुम हमेशा उठ जाते थे, लेकिन उसके पहली रात तुम कसम खाकर सोए थे कि अब कभी उठूंगा ही नहीं।

तुम्हारी जिद का रविवार की शाम को ही हाथोहाथ पता लग गया था। इसीलिए मैं अकेला नहीं आया था। साथ में कमलेश्वर, भारती, बेदी, भाभी—सबको लाया था। तुम कितने जिद्दी हो, हम सबको मालूम है। इसीलिए किसी की हिम्मत नहीं हुई कि कोई भी अकेला आए और तुम्हारे कमरे तक पहुंच जाए। फिर भी कमलेश्वर सीधे घुस गया तुम्हारे कमरे में। फर्श पर तुम लेटे थे। सफेद चादर से मुंह ढांप रखा था। गजब है कमलेश्वर की हिम्मत भी। आहिस्ता से मुंह पर से चादर हटाई और माथे पर हाथ रखकर तुम्हारे पास बैठ गया।

बहुत देर तक वह नहीं लौटा तो डरते-डरते मैं भी तुम्हारे कमरे में आ गया। डर से मेरे प्राण निकल रहे थे, फिर भी जैसे सारी शक्तियां संचित करके मैं खड़ा रहा। आंखें चुरा-चुराकर देखता रहा। मन नहीं मानता था कि सचमुच सांस रुक गई है। जिंदगी भर तुम नाटकीयता करते रहे। कहीं अब भी मजाक तो नहीं कर रहे? लगता रहा—अब उठे···अब उठे। हा! हा! हा! हा!—जोर से ठहाका मारा—'अरे प्यारेलाल! तुम मजाक भी नहीं समझते? एक बार अपनी मृत्यु (के बाद) का नाटक भी देखना चाहता था।'

मुझे मालूम है, अबकी बार तुम बहुत थक गए थे। केवल हफ्ते भर पहले जब तुम बंबई आए थे, तो कह रहे थे—'यार, अबकी बार बहुत थक गया हूं। कई रातों से सोया नहीं। न मद्रास में सो सका, न यहां। बस दिल्ली जाऊंगा, और खूब सोऊंगा।'

एक बात कहूं? 22 नवंबर की शाम को हम दोनों ऑफिस से इकट्ठे आए थे

न। उस दिन तुम सचमुच थके हुए थे। और बहुत उदास। रात को तुम्हें वाई०एम०सी०ए० होस्टल छोड़कर लौट रहे थे, तो अंधेरे की खामोशी में उर्मिला ने चौंका दिया—'बाबू, अबकी बार राकेश जी को देखकर आपको कुछ अजीब-अजीब-सा नहीं लगा?'

'कैसे?'

'मालूम नहीं···मुझे बहुत अजीब लगा। देख लेना, अब राकेश जी, बहुत दिन···।' उनका चेहरा बहुत डरा हुआ था। बात सुनकर मैं स्वयं बहुत डर गया था।

और चार दिसंबर की सुबह को जब मैं डरा-डरा तुम्हारे पास खड़ा था, तो रह-रहकर तुम्हारा चेहरा देखने की कोशिश करता रहा—सचमुच उस शाम को तुम्हारा चेहरा डरा हुआ था? लेकिन मेरी आंखें तो पत्थर हो गई थीं।

उस दिन तुम सारी शाम व्याकुल थे कि किसी तरह पुरु को फोन पर हलो कर दूं। घर पर नहीं मिली तो शायद ओम शिवपुरी के यहां फोन किया। अनीता जी पुरु को लेकर किसी के यहां बर्थडे पार्टी में चली गई थीं। रात को बात हुई, तब तक पुरवा सो गई थी। मुझे कुछ अजीब-सा भी लगा। पुरु को सिर्फ हलो करने के लिए इतनी व्याकुलता? '···यार, बात दरअसल यह है कि अम्मा के जाने के बाद पुरु के मन में बहुत डर बैठ गया है। घर से कोई बाहर जाता है, तो वह समझती है कि वह लौटकर नहीं आएगा। हमने उसे यही बता रखा है कि अम्मा कहीं बाहर गई हुई हैं। इसीलिए मैं मद्रास से चला तभी से यह चाहता था कि एक बार उससे बात कर लूं···।' सच बात तो यह थी, दोस्त, कि अम्मा की मृत्यु के बाद डर तुम्हारे मन में समा गया था। विचित्र-सा विषाद तुम्हारे चेहरे पर छाया रहता था।

फर्श पर तुम्हारा शरीर पड़ा था। डरते-डरते तुम्हारे पास खड़ा रहा। पत्थर की तरह। कभी-कभी चोर की तरह कमलेश्वर की तरफ देख लेता। वह खुद पत्थर का बुत बना बैठा था। खड़े-खड़े मालूम नहीं कब मैं तुम्हारे बैठने के कमरे में पहुंच गया। तुम्हारे बहुत-से दोस्त वहां जमा थे। माथा पकड़े, गीली आंखें और मायूस शक्लें लिए। किसी को किसी से कुछ कहने की हिम्मत नहीं होती थी। स्त्रियों को बीच वाले कमरे में भेज दिया था जहां से रोने की आवाजें बराबर डराती रहती थीं। बीच-बीच में किसी की चीख सबको चीर जाती थी। आने वालों की भीड़ उमड़ने लगी, तो मैंने आहिस्ता से कहा—'सब लोग नीचे चलकर खड़े हो जाएं?' और मैं भी नीचे चला गया। और ऊपर कमलेश्वर और बेदी तुम्हारे शरीर को नहला रहे थे।

फिर तुम्हारा शरीर नीचे लाया गया। दोस्तों ने कंधा दे रखा था, जिनमें तुम अपनी जान छोड़ गए थे। जमा हुए लोग अंतिम दर्शन के लिए तुम्हारे शव पर टूट

पड़े थे। मन को जो अब तक मजबूत किए खड़े थे, वे सब बुरी तरह से बिलखने लगे। और सहसा अनीता जी की भयानक खामोशी का बांध भी टूट गया। वह पछाड़ खाकर बेहोश हो गई थीं···बच्चों को अंतिम दर्शन करा दो···पुरवा कहां है?···शालीन को ले आओ।

और फिर तुम्हारा शरीर शववाहिनी में रख दिया गया। और तुम्हारी जिंदगी के दोस्त तुम्हारे साथ मौत के सफर में हो लिए। कमलेश्वर, भारती, राज बेदी, ओमप्रकाश, ओम शिवपुरी, सुरेश अवस्थी और मैं—हम सब शववाहिनी में तुम्हारे शव को घेरे तुमसे अपने-अपने बेशर्म और मनहूस चेहरे छिपा रहे थे।

जड़ शरीर सब कुछ देखता रहा।

श्मशान-भूमि में तुम्हारी चिता का वही स्थान चुना गया, जहां कुछ महीने पहले अम्मा का दाह-संस्कार किया गया था···'लकड़ी तुलाइए'···और तुम्हारे शरीर को चिता पर रख दिया गया। चिता से उठता हुआ धुआं। और अग्नि एकाएक प्रचंड हो उठी ···और देखते-देखते तुम्हारा पार्थिव शरीर सदा के लिए पंचभूत में विलीन हो गया।

शाम को उसी दिन शोक-सभा हुई। सुना है, उसमें बहुतों ने भाषण दिए। मैंने भाषण नहीं सुने। उस सभा में मैं नहीं गया। शाम को तुम्हारे घर फिर आया और चुपचाप अनीता जी के पास एक अपराधी की तरह मुंह लटकाए बैठा रहा। प्लेन का वक्त होने लगा तो बड़ी हिम्मत बांधकर अनीता जी को और अन्य सब जमा लोगों को हाथ जोड़कर तुम्हारे घर से लौट आया।

···शायद जिस दिन उदास होते हो, उसी दिन चिट्ठी लिखते हो। है न?

आज आठ जनवरी है। आज तुम्हारा जन्मदिन है। साथ बीते हुए पच्चीस वर्षों के सारे साये आज खामोश और उदास मन के मोड़ पर एक साथ आकर जमा हो गए हैं।

सन् सैंतालीस में तुम्हारा मुझसे परिचय हुआ था। मैं पूरे सोलह वर्ष का भी नहीं था। कॉलेज के नोटिस बोर्ड पर अंग्रेजी में लिखा था—

इस वर्ष से बंबई यूनिवर्सिटी ने हिंदी को अतिरिक्त भाषा के लिए स्वीकार कर लिया है। अतः एल्फिंस्टन कॉलेज ने हिंदी शिक्षण के लिए प्रोफेसर एम०एम० राकेश, एम०ए० को नियुक्त किया है। जिन विद्यार्थियों को अतिरिक्त भाषा के रूप में हिंदी लेनी हो, वे प्रिंसिपल को आवेदित करें।

जुलाई का महीना। बारिश में भीगा पहला दिन। कॉलेज के सबसे छोटे क्लासरूम में तेजी से दाखिल होता हुआ एक निहायत खूबसूरत, बाईस वर्ष का गोरा-चिट्टा नौजवान। सुर्ख चेहरा, घुंघराले बाल, चश्मे के मोटे कांच के पीछे चमकती

हुई सुरमई आंखें। बोस्की की लंबी आस्तीन की कमीज, ऊनी पैंट, टाई और कोट पहने, कंधे पर बढ़िया किस्म का रेनकोट डाले बाईस वर्ष का यह लड़का बहुत बुजुर्ग लगता था। गुरु-गंभीर स्वर में धारा-प्रवाह व्याख्यान, मैं मंत्र-मुग्ध सा सुनता रहा। पहली बार में ही एक विचित्र आकर्षण का संबंध स्थापित हो गया था। विश्वास नहीं होता था, कि हिंदी का प्रोफेसर भी ऐसा हो सकता है।

और दूसरे दिन ही शिक्षक-छात्र की सारी दूरी समाप्त हो गई। कॉफीहाउस में अचानक तुमसे मुलाकात हुई। झिझकता-सा, सशंकित, उत्सुकता से मैं तुम्हारे पास आया तो तुमने सहज मैत्री का हाथ बढ़ा दिया। मैंने बताया—'यों मैंने साइंस लिया है, लेकिन हिंदी साहित्य में मेरी विशेष अभिरुचि है। मैं कविता लिखता हूं। आपकी कहानियां 'सरिता' में पढ़ता रहता हूं। 'सरिता' में पहली कहानी छपी थी—'दोराहा'। फिर 'रूप रस गंध', 'फटा हुआ जूता', 'मिस्टर भाटिया'···मैं तुमसे तुम्हारी कहानियों के विषय में बात करता, उनके पात्रों के बारे में पूछता और तुम्हारी भाषा की प्रशंसा करता। तुम मुस्करा देते। और मुझे लगता कि गुरुतम हिमालय की शिला पिघल गई है और निश्छल दोस्ती का झरना फूट रहा है। और फिर हमेशा तुम यह महसूस करते रहे—चाहे तुम जीवन में सर्वथा भिन्न सोपान पर हो, फिर भी सुहृद हो, छोटे हो, अपने हो।

'···मुझे तो तेरा-मेरा रिश्ता बहुत ठीक मालूम होता है। सब दोस्तों से अलग-अलग रिश्ते हैं, लेकिन यार, तेरा-मेरा रिश्ता अलग ही है। बिना किसी कमिटमेंट के। बेदी से परिवार का रिश्ता है। बड़े भाई की तरह है। उससे तो मैं खुलकर पूरी बात भी नहीं कह पाता। भारती से, और कमलेश्वर से—मित्रता के साथ-साथ लिखने का प्रोफेशन बीच में आ जाता है। तेरे साथ—केवल मित्रता है। सबसे पुरानी। रिश्ता है अपनी बात खुलकर, जी-भरकर कह लेने का। लगता है, अपने आप से बातें कर रहा हूं···'

सन् उनचास में तुमने बंबई छोड़ दी और सन् पचास में तुमने शादी कर ली।

···वह दिन, वह एक दिन यदि जिंदगी में न होता! क्यों किया था ब्याह? एक लड़की के कुछ पत्र—अपनी स्टार्वेशन और भलमनसाहत—ब्याह हो गया।

वहां जा रहे थे तो मन उदास था। भांवरें हो रही थीं तो मन उदास था। और फिगेरो होटल का कमरा जब अंदर से बंद हो गया था, तो मन बहुत ही उदास था···

' ···विवाह के साथ ही सहसा मैंने अपने को रुके हुए पाया, रुके हुए ही नहीं, जड़ और स्तंभित। मैं जहां था, वहां अपने को पाने के लिए, या यह मानने के लिए

कि मैं वहां हूं, तैयार नहीं था। अपने उस पहले के बने हुए चेहरे को कायम रखना चाहता था। परिणामतः अपनी सारी इच्छाशक्ति खर्च करके उस पहाड़ के रहते हुए भी आगे चलना चाहा···थोड़ा चल भी लिया, पर फिर रुकना पड़ा।

' मुझे लगा, बोझ ने मुझे चूर कर दिया है। तोड़ दिया है। फिर भी कोशिश की कि घुटनों में खम न आए, मगर···आखिर यह सब नहीं निभा और दो साल हुए, मैंने अपने को उस परिस्थिति से मुक्त करने का निश्चय कर लिया··· ।'

निश्चय और स्वभाव की अस्थिरता!

मुक्ति! फिर बंधन! फिर मुक्ति! फिर बंधन! और फिर अनंतकाल के लिए महामुक्ति।

कुलू। सन् उन्नीस सौ साठ।

' ···यहां आए मुझे लगभग एक सप्ताह हो गया। रमणीय और एकांत जगह है। व्यास पास से शोर करता हुआ बहकर जाता है। मैं कुछ थोड़ा-बहुत लिखता-पढ़ता हूं, जबकि बीवी (चौंकना नहीं) चाय-वाय बनाकर दे देती है···शायद पूछोगे कि शादी कब कर डाली। बात अभी की है—पांच सप्ताह पहले की, हालांकि कई साल पहले भी इस लड़की से ब्याह हो सकता था। मैं इसे तब से जानता हूं, जब यह बारह बरस की थी।

' खैर, यह नाटकीयता तो मेरी जिंदगी में है ही। बात मैं पहाड़ की कर रहा था। जगह सचमुच अच्छी है।

' कभी बंबई आया, तो तुमसे मिलूंगा। शायद इसी साल किसी समय आना हो। फकीरों का कुछ पता थोड़े ही होता है कि कब कहां से कहां चल दें! '

और सचमुच तुम फकीर की तरह बंबई चले आए।

17 अक्तूबर, 1961। दोपहर के तीन बजे। क्रिकेट क्लब ऑफ इंडिया। आहिस्ता-आहिस्ता गाठें खुलने लगीं।

···ईव के अब तक तुमने दो चेहरे देखे थे। यह तीसरा है। उसने अम्मा को घर से बाहर फेंक निकाला और मैं सिर्फ यह कमीज पहने दिल्ली से आया हूं। साथ में सामान केवल मेरा टाइपराइटर है। बस···

मैं विस्फारित नेत्रों से तुम्हारे चेहरे को देखता रहा और पौने तीन घंटे तुम्हारी पूरी बात समझने की सच्ची कोशिश करता रहा।

दूसरे दिन हम लोग सुबह महाबलेश्वर के लिए रवाना हो गए। मेरे साथ मेरा पूरा संसार था और तुम सब कुछ छोड़-छाड़कर फकीर होकर आए थे।

महाबलेश्वर। 'एक और जिंदगी'।

तेज रफ्तार से भागते, एक के बाद एक छवि-चित्र।

पीछा करती हुई मौत की भयानक छाया···और फिर से 'एक और जिंदगी' जीने की थकी-थकी कोशिश···बीते हुए कल का वैराग्य और उगते हुए कल का अनुराग ···पतझड़ की वीरान और नंगी शाखाएं और बासंती हवा में चटखती हुई पहली कोंपल। लाल मिट्टी की सुगंध और कच्चे रास्तों पर बिखरे हुए पत्ते···भीगे अंधेरे मे टप्-टप् करती बूंदें और उदास और खामोश मन···

कांपती हुई झील और झूलती हुई किश्तियां···रात की ठंडी हवा में तैरते गीत ···और ठंडे पानी के स्पर्श की पुलक···

गेस्टहाउस के बाईं ओर का कमरा···सिगरेट के धुएं से उठते हुए बादल टिप् टिप्··टिप् टिप् टिप् टिप् टिप् टिप्...तुम्हारे टाइपराइटर पर तीन बरस की बुल्ल की नन्ही-नन्ही कच्ची उंगलियां···शरारत से चमकती हुई तुम्हारी आंखें···और एव जोर का ठहाका···नीचे चौके से ऊपर उठती हुई बादाम के हलवे की मीठी खुश और माली की आहट···सामने के पहाड़ पर फैली तेज धूप और शाम के अंधेरे टिमटिमाती हुई एक अकेली रोशनी···हंसी-खुशी के उछलते फव्वारे···आधी रात सुनसान में टूटा-सा अपना अकेला मन और हिचकियां भर-भरकर बच्चों की त रोता हुआ अवरुद्ध कंठ···

विल्सन प्वाइंट से दीखती दूर-दूर तक फैली हुई हरी-हरी घाटियां···धरती विशाल वक्ष और फैली हुई जांघें···पंचगनी का टेबल लैंड···सारे क्षितिज को आलिं में भर लेने के लिए फैली बांहें···झुकता हुआ स्वप्निल आकाश···एक निरवरो निर्बाध स्वच्छंद निःश्वास···हर्षातिरेक का एक क्षण।

···महाबलेश्वर में साथ बिताए दिन मुझे किस कदर याद आते हैं, लिखने-बताने की बात नहीं। मगर जिंदगी में कोई भी खुशी दोहराई नहीं जाती जाने फिर कब कहां कैसे साथ रहें कि···

और एक ही बरस बाद हम साथ रहने लगे।

'···बहरहाल। सूचना यह है कि मैं आठ तारीख को 'सारिका' ज्वाइन कर हूं। सात को बंबई पहुंचूंगा, इलाहाबाद से आने वाली बंबई मेल से, जो वी०टी० 13.50 पर पहुंचती है···'

फिर से नौकरी की। फ्लैट लिया। कार ले ली। एयरकंडीशनर खरीद लि फिर से घर बसाने की कोशिश की। मित्रों के परिवारों को अपना परिवार बन 'यार, इस शहर का जवाब नहीं। बहुत ही खूबसूरत शहर है।' और मुझे लगा, अब हमेशा के लिए बंबई में साथ रहने आए हो।

बंबई में एक साथ बीती कितनी-कितनी शामें। शाम के अंधेरे में उदास मन।

···शाम को अकसर मन उदास क्यों हो जाता है?

···संधिवेला जैसे मृत्यु और जीवन का मध्यांतर है। ऐसे समय अंतर की अकुलाहट स्वाभाविक ही है···

फिर डूबते सूरज की फड़फड़ाती किरणों में मन छटपटाने लगता। और अंधेरा गहरा होते-होते दिल और डूबने लगता। मौत की-सी खामोशी छा जाती।

इंडिया गेट।

'दूर समुद्र में उस द्वीप के पास लाइटहाउस देखते हो? मलाया में मेरे एक श्याम चाचा रहते हैं। बहुत बचपन में वह हम लोगों को छोड़कर वहीं बस गए थे। हमेशा लगता है, उनका जहाज ध्वस्त हो गया और ध्वंसावशेष स्मृति में तैरते रहते हैं। जीवन भर मृत्यु का संसर्ग जैसे उनसे जुड़ा हुआ हो।'

'भाजी मौत क्या होती है?'

···बताने लगते हैं कि जिंदगी क्या चीज है। मैं उन्हें रोककर अपना सवाल फिर दोहरा देता हूं—'मौत के बाद क्या होता है?'

'मौत के बाद कुछ नहीं होता। मौत के बाद आदमी खत्म हो जाता है, बस।'

'गिरधारी, मैं यह चाहता हूं कि घंटों तुझे सामने बैठाकर तुझसे बातें करूं।'

और बीस बरस तक घंटों मुझे सामने बैठाकर तुम बातें करते रहे। दोपहर को मेरी क्लब के लाउंज की छोटी मेज पर आमने-सामने बैठे। ताजमहल के सी-लाउंज में समुद्र-तट के सबसे निकट वाली बीच की मेज पर एक-दूसरे की आंखों में घूरते हुए। शाम को कभी इंडिया गेट, कभी कफ परेड के पास और कभी वर्ली सी-फेस के किनारे। मैं आहिस्ता से गाड़ी धीमे-धीमे पार्क कर देता। हलके-हलके शाम गहरी हो जाती। और अंधेरे में तुम अपने अंदर डूबकर घंटों बोलते रहते और मैं चुपचाप खामोश सुनता रहता।

···और तुमसे बातचीत करते हुए मुझे बहुत सुख मिलता है। तुमसे मेरा एक रिश्ता है—उस रिश्ते में वे सब शामें हैं जब हमने सबसे अलग होकर बातें की हैं। हमारा बरसों का पत्र-व्यवहार है···मुझे जब भी अपने अंदर डूबकर बात करनी होगी, तुमसे करूंगा। जब भी घर से बाहर घर की जरूरत होगी, इंडस कोर्ट पहुंच जाऊंगा। यूं बातें औरों से भी हो सकती हैं, और रहा दूसरी जगह भी जा सकता है, पर बात रिश्ते को लेकर है···

···और लगता रहता था कि अब तुम हमेशा इसी शहर में रहोगे। लेकिन अपना अंतर्विरोध, अंदर की व्याकुलता और जीवन की अस्थिरता तुम्हारा सहज स्वभाव बन

गई थी। जहां हो वहां से उठो, कहीं और चल दो। जो कर रहे हो, उसे छोड़ो, कुछ और करने लगो। बहुत कुछ करने की उत्कट कामना और न कर पाने का असंतोष तुम्हें कहीं टिकने नहीं देता था।

अमृतसर से लाहौर। देश का विभाजन—और लाहौर से बंबई। बंबई से दिल्ली और दिल्ली से बंबई। फिर एक शहर से दूसरा शहर। कभी शिमला, कभी इलाहाबाद, कभी जालंधर। एक पहाड़ से दूसरा पहाड़। कभी कश्मीर, कभी कुलू। माथेरान। महाबलेश्वर। आज सोलन, कल डलहौजी, फिर मालूम नहीं कहां!

हर ओर से ऊब होती है और बिस्तर उठाए-उठाए एक घर से दूसरा घर। घर की तलाश में एक घर से दूसरा घर।—मेरे लिए घर कहां है? जंडी वाली गली का घर। लाहौर के होस्टल का कमरा। शेख मेमन स्ट्रीट का कमरा। कालीना का क्वार्टर। फिर माहीम से रंपर्ट रो। एक ही शहर में कमरे बदल-बदलकर रहना और एक ही कमरे में मेज और कुर्सियों की स्थिति को बदलते रहना।

एक ही मोहल्ले में एक मकान से दूसरा मकान। 180, मॉडल टाउन; 568, मॉडल टाउन; 553, मॉडल टाउन।

एक फ्लैट से दूसरा फ्लैट। आर/522, न्यू राजेंद्रनगर का पहला घर। और आर/802, न्यू राजेंद्रनगर का दूसरा और आखिरी घर।

और तुम्हारे आखिरी घर का आखिरी कमरा। और फर्श पर पड़ा तुम्हारा शरीर···

राकेश भाई!···

उर्मिला वैद

टेलीफोन की घंटी बजती है।

'कौन? भाभी बोल रही हैं? मैं··राकेश।'

'अरे, आप कब आए?'

वह घंटी जो किसी वक्त भी बज सकती थी, अब हमेशा-हमेशा के लिए खामोश हो चुकी है।

सोचती हूं, कहां से शुरू करूं? उस पत्र से, जो सन् अट्ठावन में इनके नाम आया था और जिसमें मेरे बारे में चंद लाइनें थीं। इनके बारे में सोचकर, मेरी कल्पना कर रहे थे आप शिमला में बैठे-बैठे। दोस्तों से मिले अरसा बीत गया था। सन् 51 में हमारा विवाह हुआ था लेकिन मुझसे तो खैर उस समय तक मिलना हुआ नहीं था। एक लाइन इस तरह थी—'गिरधारी डियर, ऐसा लगता है कि अब तुम एकदम बदल गए होगे। कल्पना किया करता हूं तुम्हारी, और तुम्हारे साथ तुम्हारी मुटल्ली मारवाड़न सेठानी की।'

अक्तूबर सन् 1961 में हम लोग महाबलेश्वर जाने की तैयारी कर रहे थे। चार सप्ताह बिस्तर पर पड़े रहने के कारण मैं काफी थक चुकी थी। सोच रहे थे कि एक महीना महाबलेश्वर रहेंगे। जाने से पहले दिन घर पर फोन आया था—'मैं, राकेश बोल रहा हूं। गिरधारी के घर आते ही कह दीजिएगा कि इस नंबर पर मुझसे बात कर ले।' घर आने पर सूचना मिलते ही ये मिलने गए। और लौटकर कहने लगे—'राकेश आया है। काफी थका हुआ और टूटा-सा लग रहा है। ज्यादा बातचीत तो नहीं हुई। कल हम लोगों के साथ वह भी चल रहा है महाबलेश्वर।'

मन में एक अजीब-सी झिझक लिए हुए मैं उस दिन सुबह चली थी। बार-बार लग रहा था, इतने बड़े लेखक, उम्र में भी मुझसे इतने बड़े। पता नहीं कैसे मिलेंगे। पहली बार की मुलाकात थी। कमजोर तबीयत। दो नन्ही-नन्ही बच्चियां साथ में। कार में बैठते ही वह 'भाभी' का संबोधन! जो कि मेरे उम्र में छोटे होते हुए

भी इतना स्नेह लिए हुए था कि वह झिझक कब और कैसे खत्म हुई, पता ही नहीं लगा। अपनाने की अमोघशक्ति थी उनके पास।

महाबलेश्वर पहुंचते ही एक अजीब-सी राहत की सांस लेकर कहने लगे—'भाभी, इस शख्स को एक बहुत बुरी आदत है बेड-टी पीने की, पर मैं जल्दी नहीं उठता हूं।'

उन चंद दिनों की इतनी मधुर स्मृतियां हैं कि किन-किन को याद किया जाए। दिमाग से कुछ भी तो निकलता नहीं है। वह अपने मन की परेशानियों को निर्जीव सिगरेटें फूंक-फूंककर भुलाते रहते थे, तथा हम लोगों के बीच हर वक्त हंसते रहते थे।

सिगरेटों के धुएं से मुझे शुरू-शुरू में काफी परेशानी होती थी। सिगरेट थी कि उनके स्वभाव का अंग। एक दिन कहने लगे—'आपकी अगरबत्ती तथा धूप और मेरी सिगरेटों का मिलकर जो धुआं होता है उससे तो अब आपको परेशान होने का सवाल ही नहीं पैदा होता।'

बंबई से अचानक किसी जरूरी काम के लिए इनका बुलावा आ पहुंचा। दो दिन में ही लौटकर वापस आना था। मगर राकेश जी से जब इजाजत मांगी, तो घबराकर कहने लगे—'यार, मैं तो तेरे साथ ही चलूंगा। मैं अपनी गृहस्थी को छोड़-छाड़कर आया हूं। अब तू अपनी गृहस्थी के बीच मुझे छोड़कर जाने नहीं पाएगा।' खैर, किसी तरह समझा-बुझाकर यह चले गए। दो दिन बाद जब यह लौटकर आए तो राकेश जी कहने लगे—'यार, मैं तो घबरा रहा था कि मुझे कुछ न कुछ करना पड़ेगा, पर इन बच्चों ने तो मुझसे कुछ भी नहीं करवाया। बड़ी प्यारी हैं, तेरी ये बच्चियां। उम्र के हिसाब से बहुत ही सुलझी हुईं।'

लौटते वक्त इनके साथ राज भाई आए थे। फिर तो सारी झील राज भाई और राकेश जी के मिले-जुले ठहाकों से कांपती रहती थी। झील पर, उस टेबल पर किसी और का बैठना तक गवारा नहीं था उन्हें। पास की टेबल पर बैठकर जो ठहाके लगाने शुरू करते थे कि वह बेचारा टेबल छोड़कर उठकर चल देता था।

दिन भर निनी, बुली को लेकर खेलते रहना। कंधे पर बुली को बैठाकर पोस्ट ऑफिस तक चिट्ठी छोड़ने जाना तो रोज के कार्यक्रमों में एक बन गया था। पता नहीं कितने चक्कर लगाए होंगे, उन दोनों को चॉकलेट दिलवाने के लिए बाजार के। इतना मोह था उन्हें, बच्चों से। आज मैं जब पूर्वा और शालीन के लिए सोचती हूं तो लगता है कि प्यार समझने के दिन तो अभी बच्चों के आए भी नहीं थे और'''

'भाभी, मंगलवार कब है?'

'आज तो अभी शुक्रवार ही है, क्यों? आप क्यों पूछ रहे हैं?'

'बात ऐसी है कि मुझे आज वही सब खाना है जो कि गिरधारी के लिए आप मंगलवार को बनाती हैं। अब तो मैं भी सोचता हूं कि जब तक यहां रहूंगा मंगलवार जरूर करूंगा। न हो, आप मुझसे रोज ही मंगलवार रखवा लिया करें।' बेचारे मंगलवार की वह मखौल उड़ी कि बचपन से करते आए मंगलवार को हमेशा-हमेशा के लिए भूल गए।

इन सब के बीच दिन गुजरते चले जा रहे थे। टाइपराइटर रोज नियमित रूप से खोला जाता था। निनी, बुली को बिठाया जाता। धूप जलाई जाती। उन दोनों से अपने-अपने नाम या ऐसा कुछ टाइप करवाकर उनसे खेल-खालकर टाइपराइटर बंद। 'पढ़े-लिखे बिना तो मैं जी नहीं सकता, और लिख मैं पाता नहीं। अगर यहां कुछ लिख पाता हूं तब तो ठीक, अन्यथा तो पता नहीं क्या होगा?' बंबई लौटने से कुछ दिन पहले, एक दिन, बुली को गोद में बैठाकर 'एक और जिंदगी' की शुरुआत हुई और आखिर उसे लिख डाला।

बंबई आने के कुछ ही समय बाद 'सारिका' का संपादन शुरू कर दिया था। हमेशा ही कहा करते थे—'यह काम मेरे बस का नहीं।' और टिककर न रहने की आदत से लाचार बारह अंक निकालकर यहां से चल दिए थे। अंतिम अंक के छपने पर दो-तीन फोन आए, 'आपकी फोटो छपी है सारिका में।' मैंने फोन किया—'राकेश भाई, यह आपने क्या किया?' जवाब मिला—'इसीलिए, भाभी मैंने सारिका के संपादक-पद से त्यागपत्र दे दिया है।'

सन् 1963 के अगस्त महीने में वही टेलीफोन की घंटी। 'भाभी, आपके कहे अनुसार मैं अनीता को ले आया हूं और एक बार फिर से घर बसाने की कोशिश करूंगा।' कितना मोह था उन्हें अनीता से, बच्चों से! हर वक्त प्राण पूर्वा में ही पड़े रहते थे।

एक बार राकेश जी का इनके रूमाल पर ध्यान चला गया था। कहने लगे—'भाभी, अंग्रेजी में एक अक्षर 'आर' भी होता है, हमेशा 'जी' ही बनाती रहती हैं। कभी 'आर' भी बनाइए ना।' अगली बार आए तो कहने लगे—'इस शख्स ने तो वे सारे रूमाल खो डाले। कभी फिर से बनाइएगा।' एक मैं हूं जिसने कि फिर से बनाने का नाम ही नहीं लिया। 'आर' तो शायद फिर से भी बनाऊं। इस बार बनाने पर अपने आलस की याद आ जाए तो आश्चर्य नहीं।

आशिष के जन्म के बाद पहली बार घर आए, तो उसे देखकर उनकी तरफ

का उपहार था—इस बच्चे को क्या दिया जाए, जिसकी भाभी जैसी मां है? आशिष को बहुत से उपहार मिले थे। आगे भी मिलेंगे। पर ऐसा अनोखा स्नेहमय उपहार देने की सामर्थ्य उसी अंकल की थी। दिल्ली पहुंचते ही पत्र लिखा था—'बच्चा बहुत ही प्यारा है। काजल की बिंदी लगाए रखना। इस बच्चे की प्रतीक्षा थी।' ऐसा था उनका स्नेह।

कभी छोटा नहीं महसूस होने दिया—उम्र में, अक्ल में, कहीं भी नहीं। जी-भरकर मजाक किया पर हमेशा सिर पर चढ़ाकर···इस घर में आकर मुझे बहुत अच्छा लगता है···इस घर में आने को मन करता है···हर बच्चे से अलग मिलकर प्यार करके राकेश अंकल का मन भरता था। राकेश अंकल की हंसी क्या कोई बच्चा कभी भूल पाएगा।

एक बार, पता नहीं किस सन् में शायद 1964 में, उन्हें वहम हो गया था, कि हम लोग उनसे कुछ विरक्त हो गए हैं तथा अन्य मित्र-परिवारों से जुड़ गए हैं। उन्हीं दिनों की घटना है। आप बंबई पधारे। घर आए। आते ही शुरू हुई उनकी अंदर की व्याकुलता—ये काजू··पहले नमकीन हुआ करते थे। इस घर में मेरे आने पर कचौरियां बना करती थीं··मेरे ढोकले कहां हैं?···वे जो इडली की तरह के हुआ करते हैं···इस घर में यह अब?···यहां किसे स्पेगटी और कटलेट खाने हैं···कौन कहे कि सिर्फ मीनू बदलने के अलावा और कोई उद्देश्य नहीं था। नई डिश बनाने के चाव में ही अलग तरह का खाना बना है। पर उन्हें तो महसूस करवाना था कि मुझे उपेक्षित किया जा रहा है। मेरा वह सत्कार नहीं हो रहा है। मेरा हक है यहां कुछ। अपनी झल्लाहट दिखानी है—मेरी प्लेटें भी आज नहीं हैं··मेरे नैपकिन, जो मुझे अच्छे लगते हैं···कल जब मैं आऊं, तो यह सब होना चाहिए जो मैं कह रहा हूं···

टेबल पर से अपनी पसंद की प्लेट सभी प्लेटों में से चुनकर निकाली जाती 'भाभी, सुनो जरा, इस प्लेट पर खाना कैसे खाया जा सकता है?' उसके बाद उसी स्नेह और उत्साह से नैपकिन छांटा जाता था। रंग तक ढूंढ़ा जाता था। तब खान शुरू करके अपनी हंसी बिखेरना···शुरू करने के पहले जो शख्स अपनी प्लेट औ नैपकिन ही इतने स्नेह से छांटता है, उसके लिए आपने छांटकर खाना न बनाक कितनी बड़ी गलती की थी इसे मनवाने का इतना सुंदर तरीका क्या खोजने पर भ मिल सकता है? 'अबकी बार आपकी ये प्लेटें तो मैं लेता जाऊंगा। या आप मे लिए और ला दीजिएगा।' जाते वक्त देने लगती तो कहते—'अरे भाभी, अभी नहीं इस बार नहीं। पहले मुझे इन प्लेटों के योग्य घर तो बना लेने दो।' अब भी टेब लगा करेगी। वही सब होगा लेकिन ये मधुर स्मृतियां सिर्फ आंखों के कोरों को गील

कर जाएंगी।

'फोन किया था···आप तो घर पर थी नहीं।' फोन करने पर न मिलने की शिकायत तो उनकी कभी मिटती ही नहीं थी। पत्रों में लिख-लिखकर गुस्सा निकाला जाता था। 'गिरधारी, भाभी से इस बार मुझे दूसरी शिकायत है। जितनी बार फोन किया, वह घर पर नहीं थीं।' इतना अपनत्व था उनका बंबई के इन चार मित्र-परिवारों से कि हमेशा कहा करते थे—'दिल्ली तो रहना पड़ता है। अपना परिवार तो बंबई में ही है। जब इस बंबई में आकर चारों दोस्तों के बीच बैठकर हंस लेता हूं, लगता है अब सांस ले रहा हूं। कहीं हो आऊं, बंबई का जवाब नहीं···घर से हटकर जिस दिन घर में रहने का मन होगा, आकर बंबई ही रहूंगा इंडस कोर्ट में राज भाई और उज्ज्वला भाभी के पास।'

'आपको बुनते देखकर सोचता हूं, हमेशा सोचता हूं, काश···मैं भी इस तरह लिख पाता! आप किसी भी काम से उठकर चली जाती हैं, आकर फिर उसी तरह बुनने बैठ जाती हैं, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। यहां कि मूड ही नहीं बनता है लिखने का।'

इस बार 23 नवंबर को बिना किसी पूर्व सूचना के राकेश जी इनके साथ घर आए। उस दिन मेरा तथा बच्चों का खाना बाहर था। घर में सूप तथा कुछ सादा-सादा-सा ही खाना बना था। कचौरियां देखते ही मजाक करने लगे—'भाभी, इनको क्या कहते हैं?' मेरे हंसने पर कहने लगे—'मैं भी जानता हूं, कि कचौरी कहते हैं, पर इनमें इतना सब भरने पर, दही, चटनी डालने पर भी ये अपने देश में कचौरियां ही रह गईं। अगर फ्रांस होता तो इस रूप में इनका नाम कुछ और होता।'

बहुत उदास थे उस दिन। पूछने पर कहने लगे—'भाभी, मैं अम्मा की मौत को आज भी स्वीकार नहीं कर पा रहा हूं।' उन्होंने तो सिर्फ इतना ही कहा था, पर मैं पता नहीं क्यों अंदर तक कौंच गई थी, एक अजीब-सी आशंका से। आज तक बच्चों के वियोग में मां को घुलते देखा था, मां के वियोग में दुखी लोग भी देखे थे। परंतु राकेश भाई को देखकर लगा था कि वे अंदर से कहीं घुल रहे हैं। हंसी की कोशिश करने पर भी हंस नहीं पा रहे थे। बहुत कहने पर भी कि कल-परसों, जब आपको फुरसत हो, सब दोस्त इकट्ठे हो जाएं, मना करते रहे—'इस बार तो सबसे अकेले ही मिलूंगा।' शायद मिलकर बैठते तो अंतिम बार हंस ही लेते। इस बार इतने हारे और थके हुए थे···'वाई०एम०सी०ए० के इन डनलप पर तो मुझे नींद आती ही नहीं। दिल्ली जाकर लंबी तानकर सो जाऊंगा···' क्यों··यह सब खयाल आता है अब? बार-बार एक ही बात—'अब आप दिल्ली आएंगी। अब मैं तब तक बंबई नहीं

आऊंगा, जब तक कि आप दिल्ली नहीं आ जातीं।' अच्छा निमंत्रण दे गए थे दिल्ली आने का मेरे भाई!

'हम लोग फिर से महाबलेश्वर जा रहे हैं, क्यों नहीं तुम भी आ जाते, कुछ दिनों के लिए।' प्यार से निमंत्रण भेजा था इन्होंने आने के लिए। जवाब आया था—'दोस्त मेरे, जिंदगी में खुशियां दोहराई नहीं जा सकतीं। खुशी के, हंसने के मौके और भी बहुत आते हैं, पर दूसरी तरह के। आप उन क्षणों को दुबारा दोहरा नहीं सकते। क्यों नहीं गर्मी में कभी बुलाते? सर्दियों में तो वैसे भी दिल्ली छोड़ने का अपना मन नहीं करता।' नियति का भी कैसा क्रूर मजाक है कि दिल्ली हमेशा के लिए छोड़ते वक्त मौसम सर्दी का ही था, बहुत सर्द था।

यादों के सिलसिले

ओम शिवपुरी और सुधा शिवपुरी

बात समसामयिकता और उसकी सही पकड़ से उठी थी और एक ऐसे बिंदु पर आकर ठहर गई थी, जहां शिवपुरी की आवाज भर्राकर खामोशी में बदल गई। सुधा जी ने स्थिति संभाल ली। बोलीं—'असल में यही वह जगह है, जहां शिवपुरी और राकेश जी घंटों तकिए लगाए तख्त पर बतियाते रहते थे। इस जगह पहले हम लोगों ने एक हट बना रखी थी। वह हट राकेश जी को बड़ी प्रिय थी। हमेशा उसी हट में बैठना पसंद करते थे। उनके चले जाने के बाद शिवपुरी बेहद अकेला महसूस करते हैं। एक टिपिकल मर्दानापन था कि दोनों ही अंदर का दुःख शेयर करने में स्त्री को साथ नहीं रखना चाहते थे।'

कभी मुझसे इत्तफाक करते थे, तो कभी नाइत्तफाकी भी हुई। अनुराधा को लेकर बड़ा नाइत्तफाक गुजरा था।

'क्या सोच रहे हो इस लड़की को लेकर?'

जवाब में एक चुप्पी, जो उनके स्वर से मेल नहीं खा रही थी।

'तब फिर करो जो कुछ करना चाहते हो।'

'कुछ बातों में आपको मुझ पर भरोसा करना ही पड़ेगा। और फिर जैसे-जैसे आगे की रिहर्सलें देखीं, तो फिर ऐसे प्रभावित हुए कि नाटक की प्रॉप्स तक खरीदने जामा मस्जिद बाजार साथ-साथ जाते। वैसे आए-दिन की नाइत्तफाकियों के हल रिहर्सलों के बाद की पोस्टमार्टम में निकलते थे।'

कहते थे—'यह तो ठीक है कि मकान में सोफा हो, फर्नीचर हो, लेकिन अगर दो इनसान आ जाएं, तो कहां सोएंगे इस साजो-सामान के बीच।'

जिस क्षण मुझे पता चला कि वह नहीं रहे, उस समय मैं लखनऊ में था। मैं सोच नहीं पाया कि मैंने क्या खोया—मेरा बाप, मेरी मां, मेरा दोस्त, मेरा नाटककार, मेरा सलाहकार, बड़ा भाई''नहीं, कुछ भी समझ में नहीं आता। लुट गया! और लुट तो गया पूरा थियेटर-जगत्। उस आदमी ने सेंस कर लिया था, सेंस ही ठीक है।

('अहसास भी नहीं?' 'नहीं।')

सेंस कर लिया था कि आज की टोटल रिद्म को किस शब्दावली में व्यक किया जा सकता है। उनके नाटकों का एक भी शब्द बनावटी नहीं है। यह बा उनके तीनों नाटकों को साथ रखकर देखिए कि वह इनसान किस कदर भाषा व तलाश कर रहा था। सच, पूरे हिंदुस्तान में हिंदी रंगमंच की जबरदस्त सामर्थ्य व सच्चा प्रवक्ता हमारे बीच में से चला गया।

बात जिन दायरों के बीच उभरी थी, उन्हीं में समा गई थी।

(नंदन से बातचीत के आधार प

मैं 'आधे अधूरे' के अपने चरित्र को लेकर शुरू से बड़ी कन्फ्यूज थी। राकेश जी पूछा। वह उस औरत को भावुक बिलकुल नहीं बनाना चाहते थे। कहते थे—'ब भोगा है उस औरत ने। उसकी घुटन और कड़वाहट उसकी जिंदगी से उभरकर आ चाहिए।' और फिर दूसरी-तीसरी रिहर्सल से वही ट्राई करने लगी। शो में सफलता मिली, शायद उन्हीं प्वाइंट्स का फल था। अंत की स्पीच उन्हें बहुत पर आती थी मेरी।

संगीत नाटक अकादमी ने अभी जब राकेश-स्मृति में नाट्य समारोह कि तो 'आधे अधूरे' में मेरी अंत की वही स्पीच फिर आई। मेरी जो हालत हो गई, बयान नहीं कर सकती। हर शब्द के साथ उनकी तस्वीर खड़ी हो जाती है, क्यो उनके नाटकों के शब्द, जो एक-दूसरे से बेहद जुड़े हुए चलते हैं, वे तो हैं ही, सामने तो उन शब्दों का, उनका बोलने का लहजा, हर शब्द पर उनका अपना स ...मेरे सामने होता है!

'इस बच्ची को टूर पर नहीं ले जातीं आप?' अभी पिछले दिनों किसी ने पू

'अब? अब तो वह बड़ी हो गई है। चालीस दिन की हुई थी, तभी से थि टूर करती रही है।'

मुझे याद आ रहा है देहरादून का स्टेज। बच्ची जमीन पर नंगी पड़ी थी रूम में और मैं स्टेज पर। राकेश जी ग्रीन रूम पहुंचे, तो झुंझला गए—'यह मजाक है? ऐसी-तैसी ऐसी स्टेज लाइफ की!' और बच्ची को उठा लिया।

एक खाने वाला आदमी

कृष्ण चंदर

शायद राज बेदी ने पहले मिलवाया था। राज बेदी के यहां एक लंबी-चौड़ी दावत थी। उज्ज्वला बेदी वेजिटेरियन खाने की माहिर हैं। लोबिया, चने, दो तरह की दालें, कचौरियां और दही बड़े। मगर यह तो बाद की बात है, पहले तो बियर चली थी—मोहन राकेश को बियर बहुत पसंद है! राज बेदी ने परिचय देते हुए कहा था—'और आपको भी!' उसने मेरी तरफ इशारा करते हुए कहा, फिर गिलास से गिलास टकरा गए और आंखों में आंखें डूब गईं।

सबसे पहले मुझे उसकी हंसती हुई जहीन आंखों ने आकर्षित किया था। यह तो नहीं है कि मोहन राकेश ने दुःख नहीं देखे थे, दुःखों की पूरी गिनती उसके पास थी, लेकिन इन दुःखों के बावजूद जिस आदमी की आंखें इस कदर खुली, बेबाक और हंसती हुई हों, उसका हृदय कितना विशाल होगा, मैं सोचने लगा।

सिर्फ आंखें ही जहीन नहीं थीं, उसके फिकरे भी जहीन थे, चुभते हुए, व्यंग्यपूर्ण, खोखली हकीकतों की तहों को छेड़ते हुए और छेड़-छेड़कर जोर का ठहाका लगाते हुए। भारती, कमलेश्वर और राकेश के ठहाके बहुत मशहूर हैं, लेकिन उनमें राकेश का ठहाका सबसे जानदार था। ऐसा लगता, जैसे हंसी का भूचाल आ गया। पूरा जिस्म हिलता है। जिस्मो-जान की रग-पै में वह ठहाका मचलता है।

मैंने सोचा, सिर्फ एक इस कहकहे को सुनने के लिए राकेश से दोस्ती करना जरूरी है। हम लोग बहुत जल्द एक-दूसरे से घुल-मिल गए। उसने मुझे पढ़ा था, मैंने उसे पढ़ा था। हम दोनों एक-दूसरे के अहसास की परतों को जानते थे। जब खयालात के आईने एक-दूसरे के सामने हों, तो एक-दूसरे को पहचानने में देर नहीं लगती।

दूसरी मुलाकात चर्चगेट स्टेशन के करीब हुई। वह बहुत उदास नजर आ रहा था। चेहरा बुझा-बुझा-सा। कदम थके-थके-से। बंबई बड़ा बेरहम शहर भी है। उत्तर भारत का मेल-जोल यहां आसानी से नहीं मिलता। शायद मोहन राकेश को इसका

कुछ-कुछ अंदाजा हो रहा था। हम दोनों ने एक-दूसरे का हाथ पकड़ लिया और कुछ कहे-सुने बगैर साथ-साथ चलने लगे। आगे चलकर गेलॉर्ड के छते हुए वराम्दे में बैठ गए। कॉफी, पनीर की फुलकियां और गुफ्तगू।

बोला—'बंबई की लड़कियां बड़ी ताजर हैं।'

मैंने कहा—'एक बात अच्छी है, झूठी मुहब्बत का दिखावा नहीं करतीं!'

बोला—'कभी-कभी झूठी मुहब्बत की भी प्यास महसूस होती है!'

मैंने पूछा—'यानी जब दिल पर टु लेट की तख्ती लगी हो?'

जवाब में उसने जोर का ठहाका लगाया। आसपास की मेजों पर बैठी हुई दुबली-दुबली नाजुक अंदाज लड़कियां लरज गईं। शायद किसी के हाथ से चाय की प्याली भी छलक गई हो, हमने देखा नहीं...हम दोनों खुद छलक रहे थे।

मैंने पूछा—'बंबई क्यों आए हो?'

वह थोड़ी देर चुप रहा, फिर मेरी तरफ हंसती हुई आंखों से देखते हुए कहने लगा—'तुम बताओ!'

मैंने कहा—'फिल्मों में काम करने के लिए?'

'नहीं।' उसने कहा—'जिस तरह तुम फिल्मों में काम करते हो, मैं नहीं कर सकता। कैसे तुम ऐसी फिल्मों के लिए लिख लेते हो?'

मैंने कहा—'दो खाने बना रखे हैं!'

उसने जोर से अपनी रान पर हाथ मारा—'मैं दो खाने नहीं बना सकता। मेरा सारा वजूद एक खाना है!'

मैंने कहा—'ज्यादा दिन बंबई में रह गए, तो चार खाने बनाने पड़ेंगे...और मुमकिन है, आठ या दस बनाने पड़ें!'

वह गहरे सोच में पड़ गया, फिर सिर झटककर बोला—'नहीं, मेरे लिए यह मुमकिन नहीं। मेरे पास एक ही खाना है!' फिर एकदम घबराकर बोला—'चलो, कहीं और चलें!'

उस दिन हम बहुत लंबा घूमे। चर्च गेट से चौपाटी गए और चौपाटी से गेटवे ऑफ इंडिया। बहुत-सी बातें उस दिन हुईं और हम दोनों ने पैदल चलते-चलते अपनी पिछली जिंदगी का बहुत-सा सफर फिर से तय कर लिया। यह तो मैं नहीं कह सकता कि उसने मेरे बारे में क्या सोचा, लेकिन मुझे उस दिन यह महसूस हुआ कि वह बिफरा हुआ समंदर है, जो बहुत-से बांध तोड़ देने को बेताब है। खयालात के फर्क, उम्र के फर्क, सफर की सिम्त के फर्क के बावजूद अजीब-सी निकटता महसूस हुई। कुछ ऐसे लगा, जैसे वह वह है, जो मैं कभी था। राकेश से मेरी दोस्ती

ऐसी थी, जैसे पिछले दिनों को छूना था, उन आगे आने वाले दिनों को छूना, जो अपने पास अब नहीं आएंगे। वह शाम बड़ी सुहानी थी, जब भूत और भविष्य, दोनों गले मिल रहे थे।

इस वाकये के तीसरे-चौथे दिन जब मैं उससे मिलने गया, तो राज ने बताया—'मोहन तो दिल्ली वापस चला गया!'

'उसने कुछ बताया ही नहीं!' मैं किसी कदर चकित होकर बोला।

राज बोला—'भाई साहब, यह उसकी आदत है...कुछ बताता नहीं है, अचानक कहीं गायब हो जाता है। फिर आएगा।'

दोबारा जब वह आया, तो 'सारिका' का संपादक था। टाइम्स ऑफ इंडिया के एक एयरकंडीशंड केबिन में उससे मुलाकात हुई। फिर तो घंटों बातें होती थीं। लगभग हर हफ्ते, या दूसरे हफ्ते हम लोग मिल लेते थे, या वह हमारे यहां आ जाता, या मैं उसके यहां चला जाता। राज बेदी का घर छोड़कर अब उसने सरदार जाफरी के घर के करीब एक फ्लैट लिया था। फिर गाड़ी भी आई। एयरकंडीशनर भी आ गया। फिर उसकी मांजी भी आईं। बड़ी रिवायती फिल्मी मां लगती थीं वह। बहुत खूबसूरत, ममता और शफकत से भरपूर, मिठाई की तरह मीठी मां। इतने दुःखों के बाद ऐसी मिठास कहां से आती है...शायद कुछ औरतें गन्ना होती हैं। धरती से सिर्फ मिठास ले लेती हैं, बाकी सब कुछ छोड़ देती हैं। अच्छा हुआ, इस मिठास को दीमक नहीं लगी, अपने बेटे की मौत से चंद माह पहले वह खुद चल बसीं।

सारिका को नया रंग-रूप देने में और उसमें छपने वाले साहित्य को नया मोड़ देने में राकेश का बहुत बड़ा हाथ है। वह तो एक खाने वाला आदमी था न, जब तक सारिका में रहा, उसने सारिका के सिवा और कुछ नहीं सोचा...सुबह सारिका, शाम सारिका, और दूसरी सुबह फिर सारिका। और जब सारिका ने अदबी हलकों में कदम जमा लिए, तो मैंने सोचा, चलो, अब राकेश टिक गया, जम गया, टाइम्स ऑफ इंडिया में आने वाले मुश्किल से ही वापस जाते हैं!

मगर एक दिन क्या हुआ, राकेश ने सारिका भी छोड़ दी। उसके सब दोस्तों ने उसे बारी-बारी समझाया, मगर राकेश ने अपना इस्तीफा वापस न लिया।

मैंने पूछा—'यह तुमने क्या किया?'

बोला—'सारिका को छोड़ दिया।'

'अब क्या करोगे?'

'जो तुम करते हो!'

मैंने कहा—'फ्रीलांस राइटर की जिंदगी दुःखों का घर है। जिंदा रहना भी मुश्किल है!'

बोला—'अगर तुम जिंदा रह सकते हो, तो मैं भी रह लूंगा!'

हालात गवाह हैं कि उसके बाद उसने अपना फैसला नहीं बदला, गो सब वही तकलीफें पेश आईं, जिनका मैंने उससे जिक्र किया था, मगर वह अपने इरादे पर डटा रहा। कभी वह बंबई में एक कमरे वाले फ्लैट में रहा, कभी दिल्ली में दो कमरों वाले फ्लैटों में। फ्रीलांस राइटर की जिंदगी में सारे दुःख उसने सहे, मगर उसकी जिंदगी में अब अनीता आ गई थी, जिसने उसे ऐसा बेगर्ज भरपूर प्यार दिया, जिसकी प्यास सदा से उसके दिल में थी। इसके पहले उसके दिल में औरतों के लिए बड़ी तल्खी थी। वह कहा करता था—'औरत तो पानी का गिलास है, पिया और खाली कर दिया! फिर लिखने बैठ गए!' मगर धीरे-धीरे अनीता ने उसके सारे जख्म मंदमल कर दिए। फिर उसकी जिंदगी में पुरवा आ गई, उसकी नन्ही बच्ची। शीला संधू के यहां एक पार्टी में उसने पुरवा को मेरी गोद में देते हुए कहा था—'कृष्णभाई, इस बच्ची ने मुझे घरेलू बना दिया है!'

मगर पूरा घरेलू वह कभी न बन सका। बड़ी से बड़ी मुहब्बत भी अदीब को जकड़ नहीं सकती। घर में रहकर बहुत-सी शाखों, जड़ों, फल-फूलों का अहसास होता है। लिखना मुश्किल हो जाता है। कमरे का एकांत तो मिल जाता है, रूह का एकांत नहीं मिलता। इसके लिए किसी अजनबी जगह जाना जरूरी होता है।

मैं जब दिल्ली जाता, राकेश से मिलने की कोशिश करता, तो मालूम होता, राकेश शिमले गया है···लिखने के लिए। शिमले पहुंचो, तो मालूम होता, वह शिमला छोड़कर नारखंडा चला गया है···किसी और बड़े एकांत में, किसी गहरे अजनबीपन को खोजने के लिए।

दिल्ली की एक शाम बहुत याद आती है। यों तो उस शाम के बाद भी दिल्ली में राकेश के साथ कई शामें गुजरीं, मगर बस, आखिरी तस्वीर उसी एक शाम की है···वह शाम, जो कमलेश्वर के घर से शुरू हुई और कश्मीरी गेट की एक बंद दुकान की सीढ़ियों पर खत्म हुई। पहले हम लोगों ने बियर पी, फिर कनॉट प्लेस गए। बेवजह घूमते रहे और एक-दूसरे पर फिकरे कसते रहे, फिर वहां से मुड़े, तो मेरे इसरार करने पर कार्लटन बार आ गए। कश्मीरी गेट पर मेरा फेवरिट बार है, वहीं देर तक व्हिस्की का दौर चला। फिर खाना खाया। ग्यारह बज चुके थे, या शायद बारह। लोग जा चुके थे। चांदनी निकल आई थी। पान वाला दुकान बंद कर रहा

था। हमने जल्दी-जल्दी उसे रोककर पान लिए और लाल एंड कंपनी के सामने वाली दुकान के बरामदे की सीढ़ियों पर बैठ गए। जाने क्या बातें हुईं, उस दिन की कोई बात याद नहीं, सिर्फ हाथों का लम्स याद है और निगाह की गर्मी और सांस का स्नेह। अच्छी शामें वही होती हैं, जब कुछ कहा नहीं जाता, कुछ सुना नहीं जाता, सिर्फ महसूस किया जाता है। यों तो उसके मरने के आठ-दस रोज पहले बंबई में उससे मुलाकात हुई थी। बंबई में इंटरनेशनल ड्रामा सेमिनार था। मैं अपनी बहन सरला को सेमिनार में पहुंचाने गया था। वहीं राकेश से मुलाकात हुई। चंद लमहों का गले मिलना, चंद लमहे साथ-साथ कुर्सी पर बैठना, फिर मैं दोबारा उससे मिलने का वादा करके जल्दी से चला आया। अगर मुझे मालूम होता, कमबख्त ने कुछ बताया ही नहीं···इस कदर जिंदगी लिखी थी उसके चेहरे पर!

इसलिए मुझे उसकी मौत का यकीन नहीं होता। ये चंद सतरें लिखते हुए भी राकेश की मौत का यकीन नहीं होता। लगता है, वह अचानक कहीं गायब हो गया है, किसी गहरे एकांत में, किसी अजनबी जगह पर, किसी अपने नए आधे-अधूरे साहित्य को पूरा करने के लिए चला गया है, किसी पुरसदार बर्फ की वादी में, किसी अंधेरे बंद कमरे में, उन सपनों की खोज में, जिनका इंतजार हम सब को है।

और फिर अचानक एक दिन वापस आ जाएगा और पीछे से मेरे कंधे पर हाथ रखकर जोर से कहकहा मारकर कहेगा—'क्यों कृष्णभाई, कैसा गच्चा दिया मैंने!'

बिलकुल ऐसा लगता है और अगर ऐसा न लगे, तो जीना मुश्किल हो जाए।

मोहन राकेश : एक समर्पित कहानी-यात्रा

धनंजय वर्मा

रचनात्मकता, जीवंतता और वैचारिक सक्रियता का जो सिलसिला नई कहानी शुरू होता है, मोहन राकेश उसका हिस्सा ही नहीं, निगहबान भी है। कहानी-च के कुछ सबसे अहम सवालों को उठाने में उसने पहल की और अपनी कहानियों माध्यम से उन्हें एक रचनात्मक दिशा दी। मसलन 'समय की आत्मा को ठीक अभिव्यक्त कर पाने' या 'रचना में समय का सही प्रतिफलन करने' या 'सम का—हमारे आज का—सही प्रतिनिधित्व' करने का विचार, कला-चर्चा में विवादास हो सकता है, प्रश्न किया जा सकता है कि समय की यह प्रतिबद्धता क्या कि रचना की सीमा नहीं है? सामाजिक वातावरण और परिस्थिति से इस हद त प्रभावित होना, समय को आवाज देने का इतना आग्रह, समय की आंधी में रचनाव का स्थान कहां निर्धारित करेगा? खासकर तब जबकि यह समय, अतीत का भ होकर इतिहास बन जाएगा''ये प्रश्न अपने तात्कालिक रूप में जितने आकर्षक अ महत्त्वपूर्ण लगते हैं, उतने हैं नहीं। बीतने पर तो हर चीज इतिहास का अंग बन जा है, मगर इतिहास में भी जीवित कितनी वस्तुएं रह पाती हैं?''वही, जो अपने स को आवाज देती है, उससे संपृक्ति की उपज होती है। आखिर कालांकित, होकर तो रचना कालजयी होती है।

इस दिशा में प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाया, यशपाल ने और राकेश उस सीधा, सहज और स्वाभाविक विकास है। समस्याओं और मूल्यों या जिंदगी के यथार्थ के प्रति उसका एप्रोच उतना ही सीधा, सहज और प्रत्यक्ष है। मनुष्य जीवन-यथार्थ को उसकी सामाजिक परिस्थितियों के परिपार्श्व में परखने-आंकने उसका आग्रह है। वह समाज के यथार्थ या प्रश्नों की सामाजिकता के प्रति अ प्रतिश्रुत है, कला या रूपात्मक प्रयोगों के प्रति अपेक्षाकृत कम। वैचारिक धरा पर वह भले शिल्प और फॉर्म की चिंता में शामिल हो जाए लेकिन रचनात्मक धर पर उसका कमिटमेंट त्रिआयात्मक है—समाज, यथार्थ और जीवन, जिसके अ

हैं—बाह्य परिवेश, विविधता और संवेदनात्मक विस्तार। इसीलिए उसने फॉर्म को बदला भले हो, तोड़ा नहीं है। एक पाठक जिसने प्रेमचंद को पढ़ा और पसंद किया हो, यशपाल को सहज ही स्वीकार कर लेगा और राकेश तक आते-आते उसे एक विकास-यात्रा का अनुभव तो होगा लेकिन ऐसा नहीं लगेगा कि कहीं कुछ छूट या टूट गया है। लेकिन जहां प्रेमचंद में आदर्शों के प्रति थोड़ी अनुरक्ति अंत तक शेष रही, यशपाल में जहां एक दृष्टिकोण का आग्रह है, वहां राकेश में उनसे मुक्त होने की लगातार कोशिश मिलती है। उसमें अपनी पूरी वस्तु के साथ सहभोग के स्तर पर एक एकात्मकता और पात्र तथा परिस्थिति में हिस्सेदारी होती है। वह परिस्थितियों और घटनाओं का तटस्थ पर्यवेक्षक नहीं है।

जिस परंपरा और पृष्ठभूमि से राकेश जुड़ा है, उसका कुछ आइडियोलॉजिकल आग्रह उसकी प्रारंभिक रचनाओं में अनायास और पूरे वेग के साथ आया है। उसके पहले संग्रह 'इनसान के खंडहर' को देखिए तो उसे सबसे पहले फिक्र है प्रगतिशील बनाम पराजयवादी मनोवृत्ति की। उसका ध्यान अभिजातवर्ग की कुलबुलाती आत्मा और मध्यवर्ग की घुटी हुई चेतना पर अधिक जाता है। उसकी पहली कहानी उठाइए तो उसमें आवेशधर्मा प्रगतिवादी दौर के सारे साहित्यिक मुहावरे मिल जाएंगे। शोषित और श्रमिक वर्ग के प्रति सहानुभूति का फूटता हुआ लावा, धर्माडंबर के प्रति व्यंग्य का जोश और धनिकवर्ग की लिप्सा के लिए उबलता हुआ आक्रोश, पेट में पहुंची आग का ताप और सतह पर तैरते हुए विचार की अस्त-व्यस्त शृंखला। त्रिकोणों में लिपटता-लटपटाता वही ड्राइंगरूमी प्रेम और कॉफी के प्यालों पर बहसों का अंतहीन सिलसिला। भावुकता के विरोध में अतिरिक्त भावुकता और कमोबेश रूढ़िगत फॉर्म और 'ढहते घर की ईंटों पर गारे का लेप नहीं चलेगा' वाली मुट्ठी-बांध घोषणा''लेकिन इस सबके बावजूद यहीं वह देखता है कि 'सामने जिंदगी की किताब खुली हुई है, जिसके पन्ने अपने-आप पलटते जा रहे हैं और उन पन्नों की इबारत आप बखूबी पढ़ सकते हैं।' इन कहानियों में परिस्थिति के साथ तेजी से नया रूप लेते जीवन की धड़कनें सुनी जा सकती हैं और वह मानवीय संवेदना भी जिससे लेखक हर घटना और पात्र से एक आत्मीयता स्थापित कर लेता है।

यह बात राकेश के यात्रा संस्मरण 'आखिरी चट्टान तक' में अधिक तीव्रता से मिलती है। उससे पता लगता है कि जीवन की सहज अनुभूति के मार्ग में जो भी साधारण से साधारण मनुष्य, क्षण और स्थिति आती है, वहीं से उसकी वस्तु बन जाती है। हर घटना और स्थिति में कुछ सार्थक और मानवीय ढूंढ़ लेने की आकांक्षा ही इन छोटी-छोटी चरित्र-कथाओं को मात्र यात्रा-संस्मरण तक सीमित नहीं रखती, कहानी

के बहुत नजदीक सरका देती है। इनमें ही लेखक का वह दृष्टिकोण भी उभरता है जो आगे चलकर उसके एप्रोच को समकालीनों से अलगाता और परंपरा को विकास देता है।

यह दृष्टिकोण और रचना की न्यूनतम ऊंचाई, पहली बार 'नए बादल' में मिलती है जिससे नीचे राकेश की कोई कहानी कभी नहीं गई। इनमें जीवन को यथावत् प्रस्तुत करने के साथ उसके माध्यम से किसी अंतर्निहित यथार्थ का संकेत, सहज अनुभूति के साथ कई स्थितिशील और गतिशील, व्यक्तिगत और सामाजिक स्तरों पर यथार्थ की खोज, उसके सामाजिक और भौतिक परिपार्श्व और अंततः एक व्यक्ति या चरित्र के माध्यम से पूरे समाज और युग की कथा-व्यथा कहना, इन कहानियों की दिशा है।

मगर इनमें कोई भी दृष्टिकोण आरोपित नहीं है और पहली नजर में तो यह भी लगता है कि यहां लेखक कहीं भी मौजूद नहीं है। अपने ही पात्रों और स्थितियों के बीच उसने एक ऐसा उचित माध्यम खोज लिया है जो कहानी की सारी अंतर्बाह्य यात्रा संपन्न करा देता है। उनके कथ्य का ही वजन इतना होता है कि लेखक का व्यक्तिगत बोझ वहां अनावश्यक होता है। 'मलबे का मालिक', 'उसकी रोटी', 'सौदा', 'मंदी', 'हवा मुर्ग', 'मरुस्थल' और 'भूखे', सब इस बात की गवाह हैं। युग के सामाजिक यथार्थ और वस्तुसत्य के संदर्भ में, इन कहानियों में जीवन की बहुत तीव्र और तल्ख प्रतिक्रिया, बदलते हुए विश्वासों को गति देती चेतना और एक संक्रमणशक्ति भी मिलती है।

लेकिन दृष्टि और मूल्य की इस संक्रांति में निर्माण और विध्वंस की गति और टूटते विश्वासों में भी एक आंतरिक मानवीय आस्था और निष्ठा और दृष्टि का संकेत : 'जानवर और जानवर' की कहानियां देती हैं। इस संग्रह का मुख्य स्वर आर्थिक परिस्थितियों का सामना करने वाले निम्न-मध्यमवर्ग की लाचारी, पीड़ा, आत्मवंचना और जिजीविषा है और उनकी पृष्ठभूमि कोरमकोर सामाजिक है। 'आखिरी सामान' और 'जानवर और जानवर' को यदि इससे अलग भी मान लिया जाए तो भी मिसेज भंडारी और अनिता मुकर्जी के माध्यम से खास तबके की विडंबना और घुटन ही उसमें से उभरती है और इनका संदर्भ भी नितांत वैयक्तिक नहीं है। इनमें सांकेतिकता का नया उपयोग किया गया है जहां पूरी कहानी ही एक संकेत होती है। सांकेतिकता का यह विस्तार है। उसके स्तर भिन्न और विविध हैं, जो हर कहानी में अलग-अलग हैं। कहीं वह रूपाश्रित है, और कहीं कहानी के सहज गठन में ही निहित है। मसलन 'आखिरी सामान', 'जानवर और जानवर', 'आर्द्रा' और

'मलबे का मालिक।'

सांकेतिकता का यह विस्तार 'एक और जिंदगी' में कुछ अधिक सूक्ष्म और गहन स्तर ले लेता है। गतिशील और सामाजिक यथार्थ की अपेक्षा यहां कुछ अधिक वैयक्तिक और आंतरिक यथार्थ उभरता है, जो बाह्य परिवेश और वातावरण से व्यापक संदर्भों से जुड़ा होता है, कटा हुआ और अंतर्मुखी नहीं। जीवन के भोगे हुए यथार्थ की व्यापक पकड़ यहां छूटी नहीं है और न ही उसकी मांसल भूमि; उसकी दिशा भी, इसी स्तर की अन्य कहानियों की तरह असामाजिक नहीं है। लेकिन अब यह सामाजिकता केवल बाह्य परिवेश और वातावरण की ध्वनियों को मूर्त करने में ही शेष नहीं होती, सामाजिक व्यक्ति के अंतर्मन का यथार्थ, एक बदलते हुए 'सेल्फ' और जीवन की संक्रांति, घुटन और संघर्ष का आंतरिक चित्र भी ये कहानियां देती हैं। अब यथार्थ की अभिव्यक्ति में वह सपाटता नहीं, एक कलात्मक सांकेतिकता है और पूरी कहानी की आंतरिक अन्विति का निर्माण इसी धरातल पर होता है। यह राकेश की कहानियों के विकसित स्तर की प्रमाण हैं और यह विकास न केवल राकेश वरन् नई कहानी की विकास-दिशा का भी द्योतक है। व्यक्ति, घटना और परिस्थिति को एक व्यापक संदर्भ में देख-पहचानकर, समय और समाज की प्रतिध्वनियों को मुखर करने, जीवन के द्वंद्वों और अंतर्द्वंद्वों को चित्रित करने और उसकी पृष्ठभूमि में सक्रिय शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिहाज से इनका महत्त्व है। यहां नैरेशन और 'कहानी' कम हो गई है, 'फ्लैशेज' और मुखर अनुचिंतन अधिक। 'सुहागिनें', 'गुनाह-बेलज्जत', 'मिस पाल', और 'एक और जिंदगी' इसकी गवाह हैं। इन कहानियों में एक अव्यक्त-सा दर्द, कोहरे और बादल की तरह छाया है और यह कोहरा और बादल, कहानी की हर स्थिति के साथ और गहरा और घना होता जाता है। इतना कि अंत में एक छटपटाहट, एक मूक क्रंदन और आंतरिक घनीभूत वेदना शेष रह जाती है। अपनी बुनावट, अन्विति, और प्रभाव की दृष्टि से 'एक और जिंदगी' राकेश की लगभग सबसे अच्छी कहानी है। यों भी उसके पास जितनी अधिक श्रेष्ठ कहानियां हैं, उतनी समकालीनों में शायद किसी के पास नहीं हैं।

'फौलाद का आकाश' उसका अंतिम संग्रह है। इसमें राकेश ने अपनी कहानियों के रूपबंध में काफी रद्दोबदल की है और कहानी को सीधी-सपाट पठनीयता से विकसित कर सूक्ष्मतर संवेदनाओं और अनुभवों के अंतर्विरोधी और जटिल रंगों-रेखाओं के अमूर्त शैली के चित्रों की मानिंद बनाया है। पहले उसकी कहानियों में एक निश्चित थीम और कथानक मिलता था, परिस्थिति या पात्र से साक्षात्कार होता था, अब इधर की कहानियों में यह सब गौण हो जाता है, प्रधान

होता है—अनुभव, उसके कुछ उत्तप्त क्षण, उन पर व्याप्त किसी मनःस्थिति की वर्तुलाकार गति और वे सूक्ष्मतर सूत्र को एक व्यापक परिदृश्य से जुड़कर उस क्षण और उस मनःस्थिति को सार्थक बनाते हैं। भावात्मक संबंधों की एकरसता उससे निष्कृति की आकांक्षा लिए अपने आसपास के निर्जीव वातावरण से निरर्थक टकराहट, एक निश्चल जीवन का धुंध-भरा ठहराव, लकड़ी के चौखटों में जड़ी बड़ी-बड़ी सलाखों की तरह ठंडे और निर्जीव पारिवारिक संबंध, उनसे उपजे अंधेरे में अपने को ही न पहचानने को विवशता, एक रुटीन और बार-बार अपने को दुहराती हुई एक ऊब-भरी जिंदगी, वेहद औपचारिक, फौलाद की तरह ठंडे और जड़ दांपत्य संबंध, उस दर्द को प्रगाढ़ करने वाला अतीत का कोई चमकता-दमकता हुआ आत्मीय क्षण, परिचय के बीच अपरिचय की तैरती हुई छाया आत्मीय जनों के बीच भी बेगाना होने की यंत्रणा, अकेलापन और निर्वासन, भय और संदेह, असुरक्षा और आतंक की मनःस्थिति और अस्मिता का लोप, जो आज के जीवन के अविभाज्य अंग बनते जा रहे हैं, इन कहानियों के अंतःस्वर हैं। पहले वे स्थूल और व्यक्त सामाजिक धरातल को अपनी व्यापकता में बांधती थीं, अब वे व्यक्ति की अंतर्गतियों और अव्यक्त धरातलों को उसकी गहराई में उकेरती हैं और यों हमारे समकालीन जीवन में केंद्रीय स्वरों को मूर्त करती हैं।

राकेश की यह समर्पित कहानी-यात्रा, समकालीन कहानी और वक्त की कीमती आवाजों में से एक है, जिसमें यथार्थ के धरातल और युग की आवाज को मुखर करने की एक ईमानदार कोशिश के अमिट निशान हैं।

स्मृति-शेष···

कन्हैयालाल नंदन

'भाजी, मौत क्या होती है?'

'मौत जिंदगी का आखिरी पड़ाव है।'

'मौत के बाद क्या होता है!'

'मौत के बाद कुछ नहीं होता। मौत के साथ आदमी खत्म हो जाता है। बस!'

'परिवेश' की ये पंक्तियां गत 3 दिसंबर की शाम से अब तक दिमाग में सैकड़ों बार दस्तक दे चुकी हैं और उसी के साथ हर बार राकेश जी की एक परछाई उभरती हुई आगे आई है और वह धीरे-धीरे बड़ी से बड़ी होती गई है। हर बार यही लगता रहा है कि मौत के बाद आदमी खत्म नहीं होता, वह हर दिन शायद बड़ा होता जाता है।

जो लोग राकेश जी की परिचय-परिधि में धंसे हैं, उन्हें अच्छी तरह पता है कि उनके पास आत्मीयता का जो अक्षय कोष था, उससे वह सदाव्रत बांटा करते थे और कुछ इस तरह बांटा करते थे कि हर किसी को उनका अंतरंग होने का दावा करने का मन होने लगता था। इसके पीछे शायद एक ही कारण था कि वह जिससे भी मिले, इस ईमानदारी से मिले कि बीच में और कोई नहीं रहा। संगीत नाटक अकादमी की ओर से 8 दिसंबर को नाट्य विद्यालय के खुले मंच 'मेघदूत' में जो शोक-सभा आयोजित की गई थी, उसमें रेवतीशरण शर्मा ने लगभग सभी की भावनाएं अपने शब्दों में ढाली थीं : ' 'आधे-अधूरे' का लेखक अपने काम को और अपने बहुत सारे मित्रों और प्रेमियों को आधा-अधूरा छोड़कर चला गया।' अलका जी ने कहा था—'आज का दिन हिंदी साहित्य और रंगमंच के लिए सबसे बड़े दुःख का दिन है। हिंदी थियेटर के आने वाले दिनों का वह प्रतिनिधित्व करते थे। उनके नाटक आज के भारतीय समाज की बड़ी गहरी व्याख्या प्रस्तुत करते थे। ···उनकी जिंदगी और उनका साहित्य इस युग का संपूर्ण तनाव लेकर आया था···।'

'मेघदूत' से मेरा मन उड़कर उस बंबइया शाम तक पहुंच गया था, जब चर्च

गेट पर टी सेंटर के सामने अपने चश्मे के फ्रेम के बीच से झांकती आंखों का तेज मेरी ओर उड़ेलकर कहा था—'देखो नंदन, किसी सवाल का सही जवाब एक होता है। 'नरो वा कुंजरो' में जिंदगी जीना आज मुमकिन नहीं रह गया। जिंदगी की मार को झेले विना टक्कर का सुख अनुभव करने की वात मेरी समझ में नहीं आती।'

शोक-सभा में मैंने अपनी बगल में बैठे सूचना प्रसारण मंत्रालय के राज्यमंत्री इंदरकुमार गुजराल की ओर एक नजर देखा और फिर ध्यान डॉ० कर्णसिंह के श्लोक पर चला गया, जो उन्होंने जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल फंड के सेक्रेटरी के नाते राकेश जी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए अंत में पढ़ा था।

श्री नेमिचंद्र जैन ने अपनी श्रद्धांजलि को भारतीय नाट्य-जगत् से जोड़कर कहा था—'राकेश के नाटकों ने हिंदी रंगमंच को भारतीय नाटकों में एक ऐसा दर्जा दिया जो कभी उसको नहीं मिला था।' राकेश ने हिंदी नाटककार और रंगकर्मी को एक नया विश्वास प्रदान किया था। डॉ० सुरेश अवस्थी की वाणी ऐसे लगती थी जैसे नियति के इस अप्रत्याशित घात से संभलने का वल खोज रही हो। उन्होंने राकेश को हिंदी नाट्य रचना के ऐतिहासिक संदर्भ में देखते हुए कहा था कि 'प्रसाद के बाद पहली बार हिंदी को एक नाटककार मिला था जिसने हिंदी रंगमंच के लिए एक नया दर्शक पैदा किया था···।' डॉ० नामवर सिंह ने कहा था—'राकेश आज स्मृतिशेष हैं, कीर्तिशेष हैं। नई कहानी आंदोलन में उनका महत्त्वपूर्ण योग है। राकेश के आगमन के पूर्व रंगमंच की संभावनाओं का पता नहीं चलता था। उन्होंने पहली बार सिद्ध किया कि नाटक गंभीरता से लेने की कला है। उनका जीवन प्रौढ़ता के शिखर पर पहुंच उन्नत दिशाओं की ओर बढ़ रहा था···।' संयत स्वरों में बोलते हुए उन्होंने राकेश के साथ अपने मतभेदों की भी चर्चा की थी और कहा था—'मतभेद के समय भी जिस गरिमा का एक अहसास राकेश ने कराया, वह एक श्रेष्ठ लेखक द्वारा ही संभव होता है।' अंत में उन्होंने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा था—'कैसी विडंबना है कि जिसके नाटकों, कहानियों, उपन्यासों का अंत कभी आकस्मिक नहीं होता था, उसके जीवन का अंत इतना आकस्मिक हो गया!'

और सभा एक समवेत मौन के साथ समाप्त हो गई थी।

इस बार···

कमलेश्वर

26.11.72, बंबई।

एशियन थियेटर सेमिनार के लिए राकेश, सुरेश अवस्थी, हबीब तनवीर आदि आए हुए थे। सेमिनार आज समाप्त हुआ है। शाम की फ्लाइट से राकेश गया है। तेईस या चौबीस की शाम को भारतीय डेलिगेशन अलग से मिल रहा था—कार्यक्रम निर्धारित करने के लिए। शायद रंगमंच के क्षेत्र में किसी एशियाई संस्था को जन्म देने की पैरवी भी चल रही थी। एशियन थियेटर काउंसिल या अफ्रीकन-एशियन-लैटिनो काउंसिल···ठीक से याद नहीं। इतना ही याद है कि राकेश ने कहा था—'थर्ड वर्ल्ड को लेकर हम कुछ करना चाहते हैं।' फिर वही बोला था—'तू भी तो जनवरी में थर्ड वर्ल्ड की कहानियां निकाल रहा है। तेरा थर्ड वर्ल्ड का कॉन्सेप्ट क्या है?' मैंने अपनी बात बताई—साहित्य के नजरिए से तीसरी दुनिया का लेखन अवरुद्ध या अस्तरीय लेखन नहीं है, वल्कि मेरे खयाल से तथाकथित विकसित देशों के साहित्य से ज्यादा सहज, गहन और आदमी के कहीं ज्यादा नजदीक है, प्रकृति और मानव-प्रकृति के ज्यादा अनुकूल है और अधिक प्रामाणिक भी।

राकेश ने चश्मे के भीतर से झांका—यार, अपन इससे भी आगे सोचना चाहते हैं···रंगमंच के सर्वांगीण सर्वव्यापी नजरिए से 'तीसरी दुनिया' पश्चिम के बंधे-बंधाए रंगमंच से कहीं ज्यादा कलामय और विकसित है। कोई वजह नहीं है कि इस तथ्य को कॉम्प्लेक्स-जनित अक्षमता के कारण या मात्र शराफत में न कहा जाए। तो बोल—अपना साहित्य और अपना रंगमंच! अली-अली किया जाए!

हाथ मिल गए। आंखें मिलीं—गर्मजोशी और वही विश्वास, जो नई कहानी के दौर में भी अपने चिंतन से जन्मा था। तीसरी दुनिया! अली-अली!

भारतीय डेलिगेशन अपना लीडर चुन रहा है। कोई साहब कहते हैं—'मिनिस्ट्री की राय है कि अमुक को चुना जाए।'

वह अमुक अभी अनुपस्थित है। आने वाला है। राकेश भन्नाता हुआ सिगरेट का पैकेट निकालता है। उसमें सिगरेट नहीं है। एक क्षण वह सिगरेट के लिए झुंझलाता है, फिर वहीं से बहुत ऊंची आवाज में नाराजी से बोलता है–'अगर सरकार ही सब तय करेगी तो हम यहां किसलिए हैं? हम जो लीडर चुनेंगे, वह लीडर होगा। अगर इस तरह सरकार के डिक्टेट्स माने जाएंगे तो मैं इसके विरोध में वॉकआउट करता हूं।'

मैं उसे हाथ के दबाव से समझाकर बैठा लेता हूं। धीरे से कहता हूं–'सिगरेट लाने के लिए वॉकआउट करने की जरूरत नहीं है। वह यों भी आ सकती है।'

वह हंस देता है–'तू नस पकड़ लेता है। पर यहां दूसरा मसला भी है···यह सरकार की तोप···।'

मैं कमरे में था। वह बारजे पर। एक मिनट बाद लौटा तो देखा–राकेश बिलख-बिलखकर रो रहा है। 16 अगस्त को एकाएक चल बसी मां का दुःख। आंसू पोंछकर वह पास आ बैठता है–'मुझसे अम्मा के कमरे की तरफ से गुजरा नहीं जाता। क्या करूं?'

एयरपोर्ट : चलने से पहले वह परेशान है–पुरवा के लिए खिलौना लेना है। इतवार। बाजार बंद है। सोचा, दादर से होते हुए निकल जाएंगे। वह खुला होगा। फिर वक्त नहीं रहा। सीधे एयरपोर्ट पहुंच गए। लाउंज में पहली कतार की आखिरी तीन कुर्सियों में से अंतिम वाली छोड़कर शेष दो पर बैठे हम कॉफी पी रहे हैं। वह बहुत उदास है। भरा-भरा, थका-थका।

'इस बार बहुत थक गया हूं। दिल्ली जाकर खूब सोऊंगा।'

'मैं शायद पहली तारीख को आऊं।'

'आना तो जगा लेना।' वह फिर चश्मे के भीतर से झांककर कहता है।

3.12.72, बंबई। शाम।

फोन पर एक आवाज–दिल्ली में कुछ हो गया है। फौरन मालूम करिए··· दिल्ली–फोन पर। ठीक 6.32 हुए हैं। राकेश नहीं···

4.12.72, दिल्ली। सुबह।

दिल्ली का वही एयरपोर्ट है। वही रास्ता है। और वही राजेंद्र नगर है। शायद जिंदगी की हलचल भी वही रही हो। पर भयानक सन्नाटा है। आज हलचल में कोई

आवाज नहीं है। पेड़ों में हवा नहीं है। हवा में जान नहीं है। वही छोटा-सा फाटक। वही टूटी हुई फ्रेम, बाईं दीवार से लगी खड़ी। जीने का दरवाजा खुला हुआ। ऊपर घर का दरवाजा खुला हुआ–जैसे यहां कोई नहीं रहता। गलत घर तो नहीं है? मैं अपने इस घर का पता तो नहीं भूल गया!

पहला कमरा–सब हैं। कोई नहीं पहचानता। दूसरा कमरा–वहां भी कुछ हैं, वे भी नहीं पहचानते। बरामदा–दो-तीन लोग वहां भी हैं, वे भी नहीं जानते। मैं ही किसी को कहां पहचान पा रहा हूं?

आखिरी कमरा–उसमें सफेद चादर ओढ़े कोई लेटा है–वह भी नहीं पहचानता। शायद देख नहीं पाया। मैं सिरहाने बैठकर चादर हटाता हूं।

'सुन!'

राकेश नहीं सुनता।

'देख तो···।'

वह नहीं देखता।

'अरे जाग तो···।'

वह नहीं जागता। सब समझ में आ गया। अब अपनी नहीं पटेगी। फिर भी कहता हूं–'देख सब आए हैं···पहले आए हैं कभी?'

···सन् 1955–पहलगाम का पहला पठार। चीड़ के नीचे हम खड़े हैं और राकेश कहता है–'सब एक साथ मिल जाएं तो आदमी जिए काहे के लिए!'

पता नहीं था कि यह बात उसे अब तक भूली नहीं थी। वह हर बात पूरी करता था। समझ में नहीं आता, वह किस जल्दी में था।

वही मेज। वही किताबें, और उसी टाइपराइटर में लगे आधे टाइप किए हुए पन्ने। शेव किए हुए लेटा था। नुमाइश जाने को तैयार। शायद नुमाइश जाने को उसका मन नहीं था। जो मन नहीं होता था, वह नहीं करता था। वह नुमाइश नहीं गया। चश्मा उतारकर लेट गया।

5.12.72, दिल्ली।

फिर संतनगर का वही श्मशान था, जहां से कई बार हम साथ गुजरे थे। कई बार छत से जिसे देखा था और मौत के बारे में बातें की थीं।

'क्यों यार, मौत को पकड़कर एक बार पूछा जाए···।'

'क्या पूछा जाए?'

'कि तू हमेशा मौत की तरह क्यों आती है? किसी और तरह···।'

'अच्छा यह बता, मौत के बाद अपन दोनों पर क्या-क्या जुर्म आयद होंगे?'

'जिंदा रहते कौन-से कम हैं, जो बाद की सोच रहा है…बल्कि जिंदा रहने के जुर्म ज्यादा ही होंगे।'

'तो फिर जिंदा रहा जाए!' उसने कहा था।

राकेश अगर मर गया होता तो शायद जुर्म कम हो जाते। चूंकि वह जिंदा है, इसलिए उसके जुर्म कम नहीं हुए हैं। और कोई ताज्जुब नहीं कि वे कुछ—जो उसके वैयक्तिक और साहित्यिक कद और कीमत से हमेशा आक्रांत रहे हैं—अब सरकंडों के तीर लेकर निकल आएं। पर उसके पास शब्द हैं और समय की सच्चाइयों को वह निर्मम होकर उन्हीं शब्दों से भेदता रहा है। उसने एक भी शब्द खाली नहीं जाने दिया। यही उसका सबसे बड़ा जुर्म है!

6.12.72, दिल्ली।

कुछ भी बीता नहीं है। लोग कहते हैं, वह सैंतालीस साल का था। दोस्त की कोई उम्र होती है? दोस्त और मां—ये हमेशा अपनी उम्र के होते हैं। बाकी सबकी उम्रों में फर्क होता है।

और जो अपने वक्त की उम्र हासिल कर ले, वह क्या होता है?

1.1.73, आधी रात, बंबई।

नए साल की पहली रात का हंगामा अभी-अभी थमा है। अब घर में अकेला हूं। सन्नाटा अब और भी ज्यादा गहरा है। कहीं कुछ भी नहीं। सन् 72 बुरी तरह पीटकर चला गया है। यह सरासर गुंडागर्दी है। नया साल शुरू हुआ है। कितनी खामोशी से। अब यह वक्त सामने खड़ा है। न यह बुला रहा है, न विदा दे रहा है। परछाइयां न घट रही हैं, न बढ़ रही हैं। एक छाया अगर चिपककर रह जाए, तो! …कोई एक दिन बीतने से इनकार कर दे, तो?

सोचा, उसे फोन कर लूं—011–582167…

'हलो…।'

'….।'

'हलो…।'

3.1.73, बंबई।

दिल्ली गया था। राकेश वहां नहीं था। इस बार वह नहीं मिला।

बनिया बनाम इश्क

कहानी : मोहन राकेश

रात के साढ़े ग्यारह बजे। किसी भले आदमी का, किसी भले आदमी के यहां आने-जाने का वक्त नहीं। मगर मेरे मेहरबान, इंद्रदेव, जात सिंधी, का ध्यान इन छोटी-छोटी चीजों की तरफ नहीं जाता था। अपनी दोस्ती और बेतकल्लुफी का सबूत देने के लिए इससे अच्छा और कौन-सा वक्त हो सकता था?

इसलिए उसे देखकर मुस्कराना और बैठने के लिए कुर्सी की तरफ इशारा करना लाजिमी था।

मगर वह बैठने के लिए नहीं, मुझे अपने साथ बाहर ले जाने के लिए आया था।

जोधपुर जैसे शहर में जब रात के ग्यारह बज चुकते हैं, तो लगता है कि धरती अपनी आकाश-यात्रा के किसी नए मोड़ पर पहुंच गई है, क्योंकि जीवन की गति बिलकुल थम जाती है और ठंडी रेत सारे वातावरण को निर्जीव बना देती है। उस समय आसपास कुछ ऐसी निस्तब्धता थी कि बाहर निकलना तो क्या, दो जिंदा इनसानों की तरह बातचीत करना भी विचित्र लग रहा था।

मगर मुझे क्या, कैसा लगता है, इससे मेरे मेहरबान को कतई कोई वास्ता नहीं था।

वह इस विश्वास के साथ कमरे में टहल रहा था कि मैं अभी तैयार हुआ जाता हूं और मैं इस आशा के साथ बांहें सिकोड़े बैठा था कि वह अब भी तरस खाकर मुझे छोड़ जाएगा। मगर उसका विश्वास पक्का था और मेरी आशा कमजोर थी।

यूं मेरा उससे परिचय पूरे पांच दिन का भी नहीं था। मगर अपनी जान की एक कमजोरी थी। इंद्र के पास एक बहुत बढ़िया तांगा था। इस अरसे में उसने मुझे जोधपुर के आसपास के सभी इलाकों की सैर करा दी थी और कई दूर-दराज इलाकों में ले जाने के वायदे कर रखे थे। इसलिए इनसानी फितरत की कमजोरी की वजह से मुझे उसकी हर बेतकल्लुफी बरदाश्त करनी पड़ती थी और इस बात की भी हामी भरनी पड़ती थी कि हम दोनों बहुत जल्दी एक-दूसरे के बहुत नजदीक आ गए हैं।

इंद्र तीन कमाने वाले चाचाओं का एकमात्र खर्च करने वाला भतीजा था और कुछ न करता हुआ भी कुछ भी करना अपने लिए असंभव नहीं समझता था। उसे बात करने और अपनी की हुई बात सुनने का बहुत शौक था। हर चौबीस घंटे में मुझे उससे कम से कम चौरासी हजार शब्द सुनने पड़ते थे। अभी संध्या को ही उसने बालसमंद की सुंदरता पर एक लंबी कविता सुनाई थी और राजा जसवंतसिंह की छतरी के संबंध में इतिहासकार क्या नहीं जानते, इस विषय पर एक बड़ा-सा भाषण दिया था।

और अब वह फिर से तरोताजा होकर आया था।

दो-तीन बार आंखों से थकान, नींद और परेशानी व्यक्त करने के बाद मैं चुपचाप तैयार होने लगा। इंद्र खिड़की से कूदकर बाहर चला गया। मेरे भी खिड़की से कूदने पर उसने आगे बढ़कर खिड़की के किवाड़ मिला दिए।

फाटक के पास तांगे की बत्तियां दिखाई दीं, जो अंधेरे की आरती उतारती हुई एक दिशा से दूसरी दिशा की तरफ घूम गईं। हमारे बैठ जाने पर तांगा सरपट दौड़ने लगा।

मगर एक माजरा मेरी समझ में नहीं आ रहा था। इंद्र आज रहस्यमय रूप से खामोश था। वह पिछली सीट पर आंखें मूंदकर लेट गया था, जैसे किसी साधना में लीन हो। मैंने उसके घुटने को थोड़ा हिलाया। उसने आंखें खोल लीं।

'क्या माजरा है भाई?' मैंने पूछा।

वह व्यथा की मुस्कराहट, जो अकसर हताश बुद्धिवादियों के चेहरों पर दिखाई देती है, प्रकट हुई और विलीन हो गई। साथ ही आंखें भी बंद हो गईं।

कोलतार की सड़क, घोड़ों की टप-टप और पहियों की घुरड़``घुरड़``उचटी हुई नींद और मन में बढ़ती हुई खीज``मैंने फिर उसका घुटना हिलाया। उसने फिर आंखें खोलीं।

'यह तो बता दो कि चल कहां रहे हैं?' मैंने पूछा।

आंखें आधी मुंद गईं।

'जहां मैंने तुमसे कहा था।' उसने उत्तर दिया और आंखें पूरी मुंद गईं।

मैंने सहनशीलता के संबंध में पुस्तकों में जितने उपदेश पढ़े थे, उन्हें मन में दोहराने लगा। मगर उन उपदेशों का कोई असर नहीं हुआ।

अलग-अलग अवसरों पर उसने मुझे न जाने कहां-कहां ले जाने के वायदे किए थे। अगर मुझे पहले बताया गया होता कि कोई ऐसी भी जगह है, जहां रात के बारह बजे ही जाया जा सकता है, तो मैंने जाने का उत्साह प्रकट करने में कोताही की

होती। मगर अब बेबसी थी और गरदन झुकाकर ऊंघने के सिवा कोई चारा नहीं था।

सहसा तांगे के रुक जाने पर मैंने आंखें खोलीं।

दूर तक इनसान के रहने की कोई जगह नजर नहीं आ रही थी। सुनसान सड़क की रेखा भी कुछ दूर जाकर अंधेरे में डूब गई थी। मैंने घूमकर इंद्र की तरफ देखा।

'थोड़ी देर यहां ठहरेंगे।' कहकर वह एक छोटी-सी पोटली लिए हुए तांगे से उतर पड़ा। शराफत के तकाजे से मुझे भी साथ उतरना पड़ा।

फर्लांग भर उसके पीछे जाकर काले पत्थर की एक छोटी-सी पहाड़ी दिखाई दी। पहाड़ी पर एक शिवालय था, जो डरावने भूत जैसा दिखाई दे रहा था। एक तरफ एक छप्पर या तालाब या उनका एक जात भाई-सा था। इंद्र एक पत्थर पर बैठ गया और उसने मुझे दूसरे पत्थर पर बैठने का इशारा किया। पत्थर का सिरा नुकीला था, इसलिए मुझे पत्थर बदलना पड़ा।

किसी अज्ञात कोने में एक मेंढक मरी हुई आवाज में टर्रा रहा था। तालाब की सतह पर अनेक सूखे पत्ते तैर रहे थे।

मैंने इंद्र की तरफ देखकर आंखों से हताशा का भाव व्यक्त किया, जो इंद्र को अंधेरे में दिखाई नहीं दिया। वह कई क्षण भावपूर्ण आंखों से मेरी तरफ देखता रहा। फिर उसने मुंह हाथों में छिपा लिया और कहा—'आज मैं तुमसे एक जिगर की बात कहना चाहता हूं।'

मेरी आंखों का भाव सवालिया हो गया। मगर वह चुप रहा।

'कहो!' मैंने कहा।

'मुझे एक लड़की से मुहब्बत है।' उसने उसी तरह मुंह छिपाए हुए कहा।

मैंने अपनी जबान पर आए हुए एक्सक्लेमेशन मार्क को वहीं रोक लिया। उस समय मुझे लगा कि मैं एक अच्छा संपादक हो सकता हूं।

'बड़ी हैरानी की बात है``!' मैंने कहा।

उसने हैरानी से मेरी तरफ देखा।

'क्यों?'

'कि तुमने यह चीज अब तक मुझसे पोशीदा रखी!'

वह फिर भावुक हो गया।

और भावुक होकर उसने बताया कि उसे किसी आम लड़की से नहीं, बाजार की एक वेश्या की लड़की से मुहब्बत है। और वह वेश्या की लड़की भी आम वेश्याओं की लड़कियों जैसी नहीं, राजस्थानी सौंदर्य का एक अछूता उदाहरण है। और फिर उसने उसका वही नख-शिख वर्णन किया, जो कवि लोग एक जमाने से करते आए

हैं और बताया कि वह आज रावलों की गोठ पर मुजरा करने आ रही है और मुझे उसके साथ वहीं चलना है।

रावलों की गोठ का जिक्र पहले भी हुआ था और मुझे याद आया कि मैंने वहां चलने का इश्तियाक भी प्रकट किया था।

इंद्र एक-एक करके कपड़े उतारने लगा, तो उसके वहां आने का मकसद मेरी समझ में आ गया। कपड़े उतारकर वह पानी में उतर गया। पानी की सतह पर जमी हुई काई छितरा गई और कुछ मच्छर उड़कर आसपास मंडराने लगे।

नहाकर इंद्र ने नया रेशमी पायजामा-कुरता पहना और इत्र की शीशी निकालकर बहुत-सा इत्र कपड़ों पर मल लिया। जब लौटकर तांगे में आए, तो उसने अगली सीट पर बैठते हुए कहा कि अब मैं अपने को पिछली सीट पर फैला लूं, अभी हमें पांच मील और जाना है।

मैं सोचने लगा कि जिंदगी में हर स्थिति का एक दार्शनिक पहलू भी होता है।

जल्दी ही कोलतार की सड़क समाप्त हो गई और तांगा कच्चे रास्ते पर चलने लगा। ऊपर दोनों तरफ के वृक्ष आपस में गुंथे हुए थे। कहीं-कहीं ही कोई तारा झिलमिलाता दिखाई दे जाता था। कई जगह वृक्ष बहुत नीचे तक झुके हुए थे और तांगे का टब पत्तियों और टहनियों में उलझ जाता था। कई जगह पत्ते सिर, मुंह, आंखों से छेड़खानी कर जाते थे। एक जगह एक टहनी टूटकर साथ चली आई।

मुझे अहसास हुआ कि दार्शनिकता से मनुष्य को कितना संतोष मिलता है।

'आज मैं उससे एक फैसला करने जा रहा हूं।' इंद्र सहसा मेरी तरफ मुंह कर बोला—'मुझे यह बरदाश्त नहीं कि वह हर आम-खास जगह पर आए-जाए और सबके सामने मुजरा करे। मैं उसे अपनी रखैल बनाकर रखना चाहता हूं। मैं शहर के बाहर उसे एक जगह ले दूंगा और उसके आराम का हर इंतजाम कर दूंगा। उसे किसी पर मोहताज रहने की जरूरत नहीं।'

वह उस शहीद की तरह मेरी तरफ देख रहा था, जो अपने धर्म के लिए सूली पर चढ़ने जा रहा हो। मैंने आंखों से उसकी बात का समर्थन किया।

तांगा अब कीचड़ और पानी में चल रहा था। ऊपर से कांटेदार झाड़ियों में उलझता और नीचे से किसी गड्ढे में हिचकोला खा जाता। उड़ते हुए कीड़ों और कीचड़ के जीवों के स्वर एकजान होकर नए विश्वमय स्वर की सृष्टि कर रहे थे। गाहे-बगाहे कीचड़ के छींटे माथे पर आ पड़ते थे।

सामने एक लोहे का फाटक आ रहा था। उस पर रखी हुई लालटेन की लौ इतनी मद्धम थी कि लौ की स्थिरता से ही उसके लालटेन होने का अनुमान लगाया जा सकता था। हम लोग अपनी मंजिल पर पहुंच गए थे।

कुत्तों और जूठी पत्तलों के ढेर में से गुजरकर हम लोग जिस आंगन में पहुंचे, वहां अभी तक खाना-पीना चल रहा था। ऊपर एक कमरे में गैस जल रहे थे और घुंघरू छनक रहे थे। मुझे एक पत्तल के पास बैठाकर और दो मिनट में आने के लिए कहकर इंद्र कहीं गायब हो गया।

बाहर जूठी पत्तलों का माल चुक गया था, इसलिए कुछ कुत्ते अंदर चले आए थे। वे जीभें निकाले हुए दूर खड़े लंबी सांसें खींच रहे थे। मैं कुछ देर उनका मनोरंजन करता रहा। गृहपतियों को मेरा यह समवितरण का सिद्धांत पसंद नहीं आया, इसलिए उन्होंने कुत्तों को बाहर खदेड़ दिया।

इंद्र कोई आध घंटे के बाद लौटकर आया। उसके कदम लड़खड़ा रहे थे। उसके कुरते पर दो-तीन जगह शराब गिर जाने से बड़े-बड़े दाग बन गए थे। मेरा हाथ पकड़कर जीने की ओर बढ़ते हुए उसने कहा—'मैंने उससे···हुक्···साफ कह दिया है···आज के बाद···हुक्···वह किसी गोठ पर मुजरा नहीं करेगी! मैं यह···हुक्···।'

और वाक्य पूरा होने तक हम गैसों की चकाचौंध में पहुंच गए।

मुजरा चल रहा था। कितनी ही बाइयां एक कोने में बैठी पान चबा रही थीं। आसपास बैठे हुए लोग चुहल कर रहे थे। एक बाई का दुपट्टा खींच लिया गया। उधर से 'हाय-ऊई' की आवाज सुनाई देने लगी। मुजरा करने वाली बाई को औरों से की जाने वाली छेड़छाड़ पसंद नहीं थी। उसने शिकायत भरी नजर से उधर देखा, तो चुहल करने वालों का रुख उसकी तरफ हो गया। उधर से एक नोट दिखाया गया और वह लेने के लिए गई, तो उसका हाथ वहीं जकड़ लिया गया। क्षण भर की हाय-हाय सी-सी के बाद मुजरा फिर आरंभ हो गया। एक बुड्ढा रावल आनंद-विह्वल होकर नीचे को झूल गया।

'वाह, बाई जी वाह! क्या लोच है! क्या अदा है! वाह!'

बाई गोल थुलथुल बांहों से भाव-मुद्रा बनाए हुए स्वर को और लोच देने लगी—'पी-ई-या मिलन को आ-जा-ने-दे बैरन मां!'

तबले की थाप तेज हो गई। पैर जल्दी-जल्दी थिरकने लगे—'बैरन मां! बैरन मां! बैरन मां!'

चुहलबाजों ने एक जोर का नारा लगा दिया—'जियो छम्मियां, वाह!'

जब इंद्र की महबूबा मुजरा करने के लिए उठी, तो इंद्र ने चिकोटी काटकर मुझे सचेत कर दिया। मैंने आंखों से उसे विश्वास दिलाया कि मैं पहले से सचेत हूं।

मुजरा आरंभ हुआ।

साथ तान उठाई गई—'ए री मैं तो प्रेम दीवानी मेरो दरद न जाने कोय!'

मैं प्रोफेशनल अंदाज से उसकी तरफ देखने लगा।

मैंने पहले उसके शरीर का नीचे से ऊपर तक अध्ययन किया और इंद्र को इशारा किया कि मैं उसकी चॉयस की प्रशंसा करता हूं।

इंद्र ने इशारा किया कि वह मेरी पारखी नजर पर कुरबान है।

वह भाव के साथ भौंहें नचा रही थी। उसकी आंखें तेजी के साथ कमरे के हर भाग की तरफ घूम रही थीं। उसे जैसे उस समय आंखों से कइयों की साख रखनी थी।

उसकी कलाइयों के पास हलके-हलके रोयें थे और उसकी चोली की बाहें पूरी कसी हुई नहीं थीं। उसकी भौंहें हिल रही थीं, जैसे चील हवा में पंख मारती है। और आंखें···तह-दर-तह उन आंखों की न जाने कितनी सतहें थीं। हर सतह पर उनका एक अलग भाव था।

मुझे अपनी तरफ घूरते देखकर उसकी आंखें हलके-से कटाक्ष के साथ फैल गईं। किसी का फेंका हुआ फूल उसके वक्ष के साथ टकराया। एक साथ तड़प, तर्जना, शिकायत और कृतज्ञता की मुस्कराहट···घुंघरुओं की तेज-तेज छनक···

···किस विध मिलणो होय?

ए री मैं तो प्रेम दीवानी मेरो दरद न जाने कोय!

ए री मैं तो···

'तेरो दरद मन्ने मालम सो···ही ही ही···मन्ने मालम सो तेरो दरद!

कटाक्ष, तर्जना और एक मदिर संकेत।

इंद्र उठकर वहां से चला गया। मेरी समझ में नहीं आया कि मुझे पारखी का फर्ज अदा करना चाहिए, या जाकर उसे दिलासा देना चाहिए।

मेरे विवेक ने फैसला दिया कि पहला फर्ज पहले पूरा करना चाहिए। इसलिए मैं बैठा रहा। उसका मुजरा समाप्त होने पर दूसरा फर्ज पूरा करने की जरूरत ही नहीं रही, क्योंकि उस काम के लिए वह आप उठकर चली गई।

मैं रसमग्न होकर दूसरी बाई का नृत्याभिनय देखने लगा।

प्रभात होने के कुछ ही देर पहले मजलिस बरखास्त हुई। तांगा इंतजार कर रहा था। इंद्र पर खासा डिप्रेशन आ रहा था, इसलिए मैंने उसे पिछली सीट पर लेट जाने दिया। तांगा टहनियों में उलझता हुआ फिर कीचड़ भरा रास्ता पार करने लगा।

हवा पहले से बहुत ठंडी हो गई थी, जिससे कीड़ों की आवाजें भी मंद पड़ गई थीं। मैंने सीट पर घुटने सिकोड़ लिए और बाहें बगलों में दबा लीं।

इंद्र गंभीर योगमुद्रा में आकाश की तरफ देख रहा था।

'औरत जात प्यार की कद्र नहीं कर सकती!' उसने कहा।

'क्यों?'

त्रिकाल सिद्ध विराम। मैंने मन ही मन कुढ़कर अपना 'क्यों' वापस ले लिया।

अब इंद्र ने आंखों से पुनः 'क्यों' की याचना की। मैंने आंखों से 'क्यों' की स्वीकृति दे दी।

'रुपया बड़ी चीज है!' उसने ठंडी सांस लेकर कहा। ध्वनि ऐसी थी, जैसे एक गंभीर सत्य की तह को छू लिया गया हो।

'कैसे?' मैंने पूछा, जैसे अरस्तू प्लेटो से सवाल कर रहा हो।

'वह कहती है कि उसे कम से कम एक हजार रुपया महीना चाहिए! इतने से कम में उसका गुजारा नहीं हो सकता!'

गंभीर होने का मुकाम समझकर मैं भी गंभीर हो गया।

'हजार रुपया महीना तो बहुत ज्यादा है!'

इंद्र ने पलभर के लिए आंखें मूंद लीं। फिर आंखें खोलकर बोला—'दो सौ, चार सौ, पांच सौ तक हो, तो इनसान खर्च कर सकता है, मगर हजार रुपया···।'

'बहुत ज्यादा है!' मैंने फिर अनुमोदन किया।

'मानता हूं, खूबसूरत है।' वह बोला—'मगर इतनी खूबसूरत नहीं है कि···।'

मैंने उसकी प्रशंसा के सारे वाक्य दिमाग से निकाल दिए और सिर हिलाकर इंद्र की बात का समर्थन किया।

इंद्र ने आंखें मूंद लीं। मैं हिचकोला खाकर सीधा हो गया।

अभी छह-सात मील का सफर बाकी था।

भिक्षु

कहानी : मोहन राकेश

विदिशा से विहार पांच कोस पर था। इसकी भी एक कहानी है। जहां पर विहार था, विदिशा के आसपास सबसे रमणीय स्थान यही था। पर दस वर्ष पहले लोग उधर जाने से डरते थे। श्रुति-परंपरा ऐसी थी कि जो भी उधर गया लौटकर नहीं आया। दस ही वर्ष पहले बौद्ध भिक्षुणी विपाला अन्यान्य भिक्षु-भिक्षुणियों के साथ विदिशा में आई थीं। उन्होंने इसी स्थान पर विहार-निर्माण करने का निश्चय किया। लोगों का कहना था कि विपाला मां कोई देवी हैं—योगिनी।

विपाला मां विहार की अधिष्ठात्री थीं। दस वर्ष वह विहार के अंदर ही रहीं। अब वह बूढ़ी हो चली थीं। इन दस वर्षों में विदिशा का विहार विशेष ख्याति प्राप्त कर चुका था। विपाला मां के प्रति श्रद्धा लिए हुए पाटलिपुत्र तथा अन्यान्य विहारों से भिक्षु-भिक्षुणियां वहां आते थे।

विहार के उपासना-मंदिर में मृत्युंजय ने प्रवेश किया। वह शारदा विहार से विपाला मां के दर्शन के लिए आया था। उपासना-मंदिर में मृत्युंजय की दृष्टि एक देवी-प्रतिमा पर पड़ी, जो बिखरे हुए पत्र समेट रही थी। भिक्षु ने आंखें झुकाकर गंभीर वाणी में पूछा—'विपाला मां के दर्शन कहां होंगे देवि?'

भिक्षुणी ने मृत्युंजय को ध्यान से देखते हुए पूछा—'किस विहार से भिक्षु?'

'शारदा।'

'मां अभी आ जाएंगी, बैठो। और पीछे के पर्ण द्वार से चली गई।'

'बैठ जाओ भिक्षु।' सामने विपाला मां की सौम्य, गंभीर मूर्ति खड़ी थी। मृत्युंजय ने नमस्कार किया और संकेत पाकर आसन पर बैठ गया।

'आज भिक्षाटन कर चुके?'

मृत्युंजय चौंक उठा। वह उठा और प्रणाम करते हुए बोला—'जा रहा हूं मां।'

भिक्षुणी फिर अंदर आ गई। विपाला मां ने स्नेह से पूछा—'तुम्हारे मुख पर चिंता की रेखाएं क्यों हैं तारा?'

आंखें नीची कर तारा ने सांस ली और कहा—'मुझे किसी दूसरे विहार में भेज दो मां, यद्यपि तुम्हारे चरणों से पृथक् होना मेरे लिए मृत्यु से कम नहीं···।'

विपाला मां चौंक उठीं—'स्पष्ट कहो तारा।'

कुछ रुककर तारा ने कहा—'मां, तुम्हारे औरस पुत्र संघमित्र (जिन्होंने बचपन से तारा को छोटी बहन की तरह प्यार किया) अपनी दृष्टि में अंतर ला रहे हैं। मुझे उनसे डर लगता है मां···।'

विपाला मां की आकृति गंभीर हो गई। वह बोलीं—'संघमित्र की उचित परीक्षा हो जाएगी। तुम्हें विहार छोड़ने की आवश्यकता नहीं।'

मृत्युंजय की विपाला मां पर अटूट आस्था थी। वह संघमित्र का भी सम्मान करता था। लेकिन संघमित्र उससे चिढ़ने लगा था। वह बात-बात में मृत्युंजय की हंसी उड़ाता था। एक दिन तो उसने कुछ ऐसे शब्द कह दिए, जिससे मृत्युंजय के आत्माभिमान को काफी ठेस लगी। बात विपाला मां के कानों तक पहुंची। यह संघमित्र की दूसरी शिकायत थी।

मृत्युंजय को पहली बार अपमान सहन करना पड़ा था। उसने शीघ्र ही वहां से चल देने का निश्चय किया।

रात्रि को जब सब सो गए तो मृत्युंजय उठा। मन ही मन विपाला मां को प्रणाम कर वह निकल पड़ा। वह कुछ ही कदम बढ़ा था कि उसे स्त्री-कंठ की अस्पष्ट-सी आवाज सुनाई दी—'मां की अस्वस्थता का बहाना करके तुमने मुझे क्यों बुलाया?' स्वर तारा का था। मृत्युंजय विचलित हो उठा। पुरुष मूर्ति ने तारा के दोनों हाथ पकड़ लिए। तारा के मुंह से हलकी-सी चीख निकल पड़ी।

'ठहरो।' मृत्युंजय की गंभीर वाणी फूट पड़ी।

संघमित्र चौंक उठा। मृत्युंजय को देखकर वह बोला—'तू यहां।' उसने मृत्युंजय की कनपटी पर मुष्टिप्रहार किया। दोनों परस्पर गुंथ गए। तारा विपाला मां की कुटी की ओर भाग गई।

विपाला मां ने सुना और अचेत होकर गिर पड़ीं। संघमित्र और मृत्युंजय को चिकित्साशाला में पहुंचाया गया।

शारीरिक और मानसिक आघात से प्रातःकाल से पहले ही संघमित्र के प्राण निकल गए। मृत्युंजय अभी तक बेहोश था। विपाला मां एक बार होश में आईं और संघमित्र की मृत्यु का समाचार सुनकर फिर बेहोश हो गईं। मृत्युंजय की शुश्रूषा का भार तारा ने अपने हाथों में ले लिया।

तारा कुछ देर विश्राम करने के लिए गई लेकिन विश्राम न कर सकी। विपाला

मां की दशा बिगड़ गई। विपाला मां ने तारा की बातों पर समयानुसार ध्यान न देने के लिए उससे क्षमा मांगी और 'धम्मं शरणं गच्छामि' की ध्वनि के साथ निर्वाण प्राप्त कर लिया।

दो दिन बाद जब मृत्युंजय की आंख खुली तो उसका सिर तारा की गोद में था। उसने तारा की ओर देखा। उसे लगा, तारा अतिसुंदरी है। मृत्युंजय ने कांपते स्वर में कहा—'तारा!'

तारा का आवेग टूट पड़ा—'भैया।'

मृत्युंजय के शिथिल हृदय को धक्का लगा—'नहीं तारा।'

'क्या नहीं भैया?' तारा ने मृत्युंजय की आंखों में देखा। उसकी आंखों में वासना की विभीषिका थी। तारा डर गई।

जब मृत्युंजय की फिर आंख खुली तो तारा वहां नहीं थी। वह तारा की अनुपस्थिति का कारण समझ गया। उसे आत्मग्लानि हुई। वह किसी तरह खड़े होकर उपासना-मंदिर की ओर चल दिया—विपाला मां के दर्शन के लिए।

कठिनता से मृत्युंजय उपासना-मंदिर की देहरी तक पहुंचा। अंदर चौकी पर विपाला मां की अस्पष्ट-सी मूर्ति उसने देखी—'मुझे क्षमा कर दो मां, मैंने पाप किया है।' उसने सिर उठाया तो विपाला मां की चौकी पर तारा बैठी थी। अब वह विहार की अधिष्ठात्री थी। तारा ने सौम्य, गंभीर वाणी में कहा—'विपाला मां का निर्वाण हो चुका है। उनकी समाधि पर फूल चढ़ाओ भिक्षु।'

मृत्युंजय रो पड़ा और विपाला मां की समाधि की ओर चल दिया।

लड़ाई

कहानी : मोहन राकेश

उसका बायां पैर लंगड़ा रहा था और वह कितनी ही आस्थाएं और कितने ही विश्वास पीछे छोड़कर स्टेशन की ओर चल रहा था।

वह कहीं जाना चाहता था। कहीं, जहां वह अपने चारों ओर मंडराती हुई कड़वी अनुभूतियों से दूर पहुंच जाए, जहां उसके भटके हुए हृदय को शरण मिल जाए। वह अपने मानसिक संताप से परे भागना चाहता था और उसके लिए उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उसे किसी भी दिशा में चलते जाना चाहिए—किसी ऐसी दिशा में, जहां से और भी कहीं आगे जाया जा सकता हो। और वह बिना किसी निश्चय के स्टेशन की ओर चलता जा रहा था।

तांगे, बसें, मोटरें पास से निकल रही थीं। उसे लग रहा था कि जिंदगी उसका मजाक उड़ा रही है। उसके बाएं पैर के टखने की हड्डी, जो दो सप्ताह पहले टूट गई थी, अब चलते समय बुरी तरह से दर्द कर रही थी। फिर भी पैर घसीटता हुआ वह चला जा रहा था, क्योंकि चलने से बैठे रहना उस समय उसके लिए अधिक असह्य था। बैठ जाने का मतलब था हार जाना, मान लेना और परिस्थितियों के सामने आत्मसमर्पण कर देना। वह अभी इसके लिए तैयार नहीं था।

स्टेशन पर पहुंचकर उसने पल भर के लिए विमर्श किया कि कहां का टिकट ले। वह किसी ऐसे घर में जाना चाहता था, जहां का वातावरण उसके लिए नवीन हो। अपने अधिकतर मित्रों से वह कई-कई बार मिल चुका था और जानता था कि वे वर्तमान परिस्थिति में उससे किस-किस तरह से मिलेंगे और कौन-कौन-सी बातें कहेंगे। वह ऐसा कुछ नहीं चाहता था, जिसकी वह कल्पना कर सकता हो। शायद इसलिए कि उनमें से किसी भी कल्पना में उसे शरण दिखाई नहीं देती थी। इसलिए वह कहीं ऐसी जगह जाना चाहता था, जहां जाकर उसे यह अनुभव न हो कि वही हुआ, जिसकी उसे आशा थी। उसका एक मित्र था, जिससे मिले उसे वर्षों हो गए थे। इन वर्षों में वह एक पति और फिर एक पिता भी बन चुका था। उस मित्र का विचार आते ही उसने उसी के वहां चलने का निश्चय कर लिया और थर्ड क्लास

के टिकटघर की खिड़की के पास जाकर उसने कहा—'एक लुधियाना।'

टिकट लेकर वह प्लेटफॉर्म पर आ गया। गाड़ी आने में अभी देर थी। वह एक बेंच पर बैठकर रेल की पटरियों और उनके साथ-साथ चलते हुए जंगलों और तारों को देखने लगा। एक इंजन शंटिंग कर रहा था। उसकी विकराल चीख जैसे रात्रि के अंतर में दूर तक चुभती चली जाती थी। फिर कुछ आग के नाचते हुए शोले, कुछ फफकता हुआ धुआं, एक ड्राइवर और एक मजदूर के शरीर, घूमते हुए पहिए और गति—केवल गति के अतिरिक्त उसके चलने का कोई उद्देश्य ही नहीं था।

सहसा उसकी आंखों के सामने 'अन्ना केरेनिना' का वह दृश्य आ गया, जिसमें अन्ना अपने जीवन की चरम निराशा में अपने आप को भूलकर इंजन के घूमते हुए पहियों के नीचे कुचली जाती है। इंजन के लहू से लथपथ पहियों का स्मरण करके उसने एक ऐसी दृष्टि से शंटिंग करते हुए इंजन की ओर देखा, जैसे वह वही इंजन हो, जिसने अन्ना केरेनिना को कुचल दिया था और जैसे आज वह उसे भी एक तरह का निमंत्रण दे रहा हो।

वह उठकर प्लेटफॉर्म पर टहलने लगा। यह उसके जीवन में पांचवां अवसर था कि उसे बेकारी का सामना करना पड़ रहा था। पहले वह एक दैनिक पत्र का सहायक संपादक था। वह पत्र घाटे में चला गया और उसे वहां से अलग कर दिया गया। फिर दो बार दूसरे पत्रों में उसे स्थान मिला, परंतु एक जगह से अपने 'उग्र विचारों' के कारण और दूसरी जगह से निःशुल्क लेख न ला पाने के कारण उसे निकाल दिया गया। फिर पत्रकारिता से उकताकर उसने एक स्कूल में नौकरी कर ली। परंतु शीघ्र ही उसे पता चल गया कि स्कूल में पढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि वह मनुष्य के रूप में अपनी हत्या करके केवल शब्दों के अर्थ और उच्चारण बतलाने वाली मशीन में बदल जाए। वह बत्तीस रुपए मासिक की नौकरी उसने अपने आप छोड़ दी, और उस बार उसे गर्व हुआ कि वह अपनी ओर से भी कोई नौकरी छोड़ सकता है। स्वाभिमान की इस प्रेरणा में उसने दो वर्ष लगाकर एम०ए० कर लिया और अधिक दबाव के कारण इसी बीच में उसकी छोटी बहन, जो अकेली ही उसका परिवार थी, मर गई। फिर भी जिस दिन उसे एक अच्छे कॉलेज में लेक्चरर के रूप में नियुक्ति मिली, उस दिन उसने समझा कि आखिर वह अपने जीवन-संघर्ष की मंजिल पर पहुंच गया है, और आगे उसके रास्ते में शिखर ही आ सकते हैं, खाइयां नहीं।

परंतु यह भ्रांति थी, जो शीघ्र ही दूर हो गई। पहले उसका जीवन और संघर्ष केवल अपने आप तक ही सीमित था, परंतु कॉलेज में आकर उसने पाया कि वह

एक समुदाय के सामूहिक संघर्ष में आ गया है, जहां व्याकुलता अधिक स्पष्ट है और असंतोष अधिक मुखरित। उसने देखा कि वहां यह असंभव है कि मौन रहकर अपने आप को एक पृथक् व्यक्ति के रूप में देखा जाए। वहां वह कइयों के एक समूह का अंश था, जहां उसे प्रभावित करना भी था और प्रभावित होना भी था। उसने उत्साह के साथ इस स्थिति को स्वीकार किया और शीघ्र ही टीचर्स यूनियन के कार्यक्रमों में प्रमुख रूप से भाग लेने लगा। टीचर्स यूनियन के अधिकांश कार्यकर्ता नौजवान थे और वे जिस तरह की बातें किया करते थे, उनसे यह आभास होता था कि शीघ्र ही शिक्षापद्धति और शिक्षकों की अवस्था में एक क्रांति हो जाएगी और वह इस क्रांति के अग्रदूतों में से एक होना चाहता था। दो व्यक्ति थे, जिनका लहू सबसे अधिक गरम था—बलदेव और जगदीश। वे दोनों प्रांतीय यूनियन में कॉलेज के प्रतिनिधि होकर जाना चाहते थे। वह उनके लिए वोट एकत्र करने के लिए सरगर्मी के साथ काम करने लगा। उसके अपने विभाग के अध्यक्ष भी प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने की चेष्टा कर रहे थे। उन्होंने उसे आदेश देकर उस सरगर्मी से रोकना चाहा, परंतु उसने महत्त्व नहीं दिया। वह जानता था कि वह अधिकारी वर्ग के पिट्ठू हैं और अधिकारी वर्ग चाहता है कि किसी भी तरह टीचर्स यूनियन पर उसका प्रभाव बना रहे। वह उन्हें शांति, त्याग और संतोष की बातें कहते सुन चुका था। जब उन्होंने उससे स्पष्ट पूछा कि वह उन्हें वोट देगा या नहीं, तो उसने स्पष्ट ही उत्तर दिया—'नहीं।'

निर्वाचन हो गया। बलदेव और जगदीश प्रांतीय यूनियन के लिए प्रतिनिधि चुन लिए गए। परंतु निर्वाचन के दो ही सप्ताह के अंदर उसे कॉलेज से नोटिस मिल गया।

उस दिन उन्हीं के कॉलेज में प्रांतीय यूनियन का अधिवेशन होने वाला था। वह बाहर से आने वाले प्रतिनिधियों को लाने के लिए स्टेशन की बस पर चढ़ने लगा, जब झटके से बस चल पड़ी और वह पीछे गिर गया। उसके बाएं पैर के टखने की हड्डी टूट गई। जब वह कठिनता से टूटे पैर को घसीटता, दो व्यक्तियों का सहारा लेकर कॉलेज में वापस आया, तो उसे प्रिंसिपल का चपरासी साहब के सलाम के साथ एक चिट्ठी दे गया, जिसमें लिखा था कि उसी दिन से उसकी नौकरी समाप्त की जा रही है और एक महीने का अतिरिक्त वेतन उसे साथ दिया जा रहा है।

पीड़ा के कारण उससे बोला नहीं जा रहा था, अतः चिट्ठी उसने बलदेव को बुलाकर उसके हाथ में दे दी। बलदेव पढ़ते ही उत्तेजित होकर अधिकारियों को गालियां देने लगा। उसने उसे विश्वास दिलाया कि विषय अवश्य टीचर्स यूनियन

के अधिवेशन में लाया जाएगा। पीड़ा असह्य हो रही थी, अतः वह तांगा लेकर घर चला आया। दो दिन तक उसकी चिकित्सा होती रही।

दो दिन बाद उसे पता चला कि वह विषय स्थानीय यूनियन के अधिकार क्षेत्र का होने के कारण प्रांतीय यूनियन में नहीं रखा जा सका, और स्थानीय यूनियन की मीटिंग में यह निर्णय किया गया है कि जो चीज सामूहिक रूप में सभी इकाइयों को प्रभावित नहीं करती और केवल एक व्यक्ति की ही समस्या है, उसके संबंध में कोई सामूहिक कदम नहीं उठाया जा सकता। परंतु सहानुभूति के रूप में वहां एक प्रस्ताव पास किया गया, जिसमें प्रिंसिपल तथा अधिकारियों की इस अनुचित कार्य के लिए निंदा की गई।

कटी हुई पतंगें

कहानी : मोहन राकेश

लाल पतंग आकाश में कट गई थी। हवा की लहरों में डगमगाती और चक्कर खाती हुई वह नीचे की ओर आ रही थी। बहुत से बच्चे इधर-उधर से भागकर सड़क के बीचोबीच जमा हो गए थे और इस आशा में थे कि पतंग गिरे और उसे दबोचें। एक बच्चा, जिसके कपड़े औरों की अपेक्षा अधिक साफ थे, सड़क के किनारे ही आकर रुक गया था और वहीं से बाहें उठा-उठाकर चिल्ला रहा था—'छीपो! मेरा ई माल! छीपो! मेरा ई माल!' (पंजाब में कटी हुई पतंगों को देखकर बच्चे इस तरह चिल्लाने लगते हैं और उनका विश्वास रहता है कि इस तरह कहने से कटी हुई पतंग उनके ही हाथ आ जाएगी।)

पतंग अभी धरती से कई फुट ऊपर ही थी कि लूटने वालों के हाथों ने उसे एक साथ दबोचा और निमिष भर में ही उसकी धज्जियां करके उसके मसले हुए कलेवर को कीच में फेंककर भाग गए।

उनके चले जाने पर वह बच्चा, जो सड़क के किनारे खड़ा था, मसली हुई पतंग के पास आया। नीचे झुककर उसने पतंग को ध्यान से देखा, फिर उस पर अपने पैरों की छाप लगाकर नाचता-डगमगाता वापस लौट गया।

रवि मुस्कराया। जब बच्चा आंखों से अदृश्य हो गया, तो उसने पुनः उड़ती हुई पतंगों की ओर देखा। नीली और जामुनी पतंगों का पेच लड़ रहा था। वे पतंगें जिस दिशा में बढ़ रही थीं, उसी दिशा में कुछ और ऊपर जनवरी महीने के ऊदे बादल अपने आप को कई-कई तरह के चित्रों में बदल रहे थे। वह हलके और प्रसन्न थे, क्योंकि वे बूंदें बरसा चुके थे। उनके पीछे कुछ और भी गहरे-गहरे बादल थे, जो अभी बरसे नहीं थे। उन पर से हटकर रवि की आंखें उस दिशा में घूम गईं, जिधर से उसकी बस आने वाली थी। समय हो चुका था, पर बस अभी भी आ नहीं रही थी।

उस दिन जनवरी, सन् '51 की 26 तारीख थी। भारत के गणराज्य घोषित होने के दूसरे वर्ष दिन के उपलक्ष्य में जो उत्सव मनाया जा रहा था, वह उसके बीच से ही उठकर चला आया था, क्योंकि उसे भूख लग आई थी। आते समय रास्ते में उस

पर बूंदें उतर आई थीं, जिससे उसका कोट, जो गहरा भूरा होने के कारण कभी मैला नहीं होता, पूरा भीग गया था। कोट की जेब के अंदर रुपए वाला वह नोट भी भीग गया था, जिसकी खाल कई जगह से उधड़ रही थी। भीगकर नोट की अवस्था विचित्र हो गई थी, परंतु उस अवस्था में भी उसमें भूख मिटाने की सामर्थ्य तो थी ही।

प्रोफेसर सत्यमूर्ति विद्यालंकार ने रवि के कंधे पर हाथ रखा। दोनों बांहों में पुस्तकें, एक हाथ में परचे और एक हाथ में छाता लिए प्रोफेसर सत्यमूर्ति विद्यालंकार सचमुच ही विद्या के अलंकार लग रहे थे।

'पैदल नहीं चलते?' प्रोफेसर विद्यालंकार ने अपने गोल और चिकने चेहरे को प्रश्नसूचक बनाकर पूछा।

रवि बस की प्रतीक्षा करते-करते दो पतंगों के पेच देख चुका था। वह तुरंत प्रोफेसर विद्यालंकार का साथ देने के लिए तैयार हो गया। मन ही मन उसने रास्ते को मंजिलों में बांट लिया—गांधी कैंप, पटेल चौक, अड्डा कपूरथला और रैनक बाजार। एक ही लंबा रास्ता तय करने की अपेक्षा वह पांच-छह छोटे-छोटे रास्ते तय किया करता था। इससे थकान कुछ कम महसूस होती थी। चलते-चलते वह अपने कदम गिनने लगा।

सहसा एक बूंद उसके सिर पर गिरी। फिर दो बूंदें उसके कॉलर पर गिरीं। फिर कितनी ही मोटी-मोटी बूंदें चारों ओर गिरने लगीं।

प्रोफेसर सत्यमूर्ति विद्यालंकर ने जल्दी से अपनी पुस्तकें और परचे उस पर लादकर छाता खोलने की चेष्टा की। छाता खोलने में उन्होंने सत्य और मूर्ति, दोनों का जोर लगा दिया, पर छाता नहीं खुला। छाता वास्तव में जंग खाए हुए था और मनुष्य न होने के कारण विवश नहीं था कि जैसे भी हो सके, अपने स्वामी की इच्छा का पालन करे।

छाता दबाने, झटकने और ठोकरें मारने पर भी नहीं खुला, तो हारकर वे दोनों पक्की ईंटों के बने गांधी गेट की ओर भागे, जिसके न इस ओर कोई दीवार है, न उस ओर, और जो गांधी कैंप के तंबुओं के आगे दिन-रात मन मारे खड़ा रहता है। जब कड़ी धूप पड़ती है, या तेज आंधी आती है, या मूसलाधार वर्षा होती है, तब गांधी गेट उन सबके सामने सत्याग्रह करके कहता है कि हे आकाश की शक्तियो, स्वतंत्र भारत के इन स्वतंत्र शरणार्थियों पर आक्रमण करने के पहले तुम मुझ पर वार करो, क्योंकि मेरा नाम गांधी गेट है और मैं महात्मा गांधी का स्मारक हूं।

गांधी गेट के नीचे आकर रवि ने सिर के बालों को निचोड़ा। गेट की छाया में उस समय और भी बहुत-से लोग थे। परंतु उन्हें देखकर यह नहीं लगता था कि

वे वर्षा के कारण भागकर वहां आए हैं। वे वहां थे, जैसे कंकड़-पत्थर और कागज वहां थे। रवि की दृष्टि पुरुषों वाली पंक्ति के पीछे एक किवाड़ के ऊपर लगे हुए टीन के बोर्ड से टकराई, जिस पर लिखा था—'आटे का डिपो।'

आटे का डिपो—ईश्वर और शैतान, दोनों की भाईचारे की दुकान। रवि को अपनी भूख याद हो आई। वर्षा तेज होती जा रही थी। बहुत से लोग तंबुओं में से निकलकर गांधी गेट की शरण में आते जा रहे थे। थोड़ी ही देर में रवि के चारों ओर इतने व्यक्ति एकत्र हो गए कि वह दूसरों की सांसें सूंघने के लिए विवश हो गया। जब दबाव कुछ और भी बढ़ा, तो उसने देखा कि न जाने कैसे प्रोफेसर विद्यालंकार ने अपना छाता खोल लिया है और टूटे हुए जूते को घसीटते हुए सड़क की सीध में चले जा रहे हैं।

जब उसकी आंखें प्रोफेसर विद्यालंकार के ऊंचे तंग पायजामे, नीले कोट और काली टोपी से हटकर समूह की ओर आई, तो वहां उसने एक युवती की आंखों को अपनी ओर देखते पाया।

युवती की त्वचा भूरे रंग की थी। भूरा रंग उसके कोट जितना भूरा तो नहीं, हां, इतना भूरा अवश्य था कि उससे चेहरे का मैल सहसा दिखाई न दे। वह उसकी ओर ऐसी दृष्टि से देख रही थी, जैसे आकाश में उड़ती हुई किसी चील को देख रही हो।

पहले तो रवि को लगा कि उस युवती की आकृति किसी परिचित, पर भूली हुई आकृति से मिलती-जुलती है, फिर सहसा ही वह उसे पहचान गया। वह राजकरनी थी—वही राजकरनी, जो आदत न होने पर भी उसे देखकर सकुचाने की चेष्टा करती थी। लाहौर, कृष्णनगर के जिस कबूतरखाने में वह किराएदार था, उसी कबूतरखाने की बीच वाली कोठरी में धाया लज्जावती रहती थी, जिसकी वह लड़की थी। वह उसे जानता था, पर उसका परिचित नहीं था। कबूतरखाने की सीढ़ियां चढ़ते-उतरते वे कई बार आमने-सामने पड़ जाया करते थे। वह एक ओर को हट जाती और वह निकल जाता, या वह एक ओर को हट जाता और वह निकल जाती। दो साल तक वे इस तरह सीढ़ियों में एक-दूसरे को रास्ता देते रहे, परंतु उसकी ओर वह एक विचित्र संकोच के साथ देखा करती थी। राजकरनी का वह संकोच उसे बहुत मीठा लगा करता था।

परंतु आज वह जिस दृष्टि से देख रही थी, उसमें न वह संकोच था और न वह मिठास। उसका शरीर स्त्री-पुरुषों की भीड़ में भिंचा जा रहा था। उसे इसकी चिंता नहीं थी। शरीर को दूसरों के स्पर्श से बचाकर रखना है, ऐसा कोई भाव उसके चेहरे

पर नहीं था। वह उसकी ओर केवल देखने ही के लिए देख रही थी, यद्यपि उसकी आंखों में एक घायल इतिहास झांक रहा था। तेज नाखून, विकराल पंजे, मांस की बोटियां, लहू की लकीरें, उबली हुई हवा, उबली हुई जमीन, उबला हुआ आकाश, चीत्कार-चीत्कार और शेष दो टिमटिमाती हुई मौन आंखें।

वह उसे उन्हीं टिमटिमाती हुई आंखों से देख रही थी। रवि के मन में आया कि वह उसके पास जाकर उससे बात करे। परंतु···

वह सड़क पर भीगते हुए गधों को देखने लगा। आठ-दस गधे थे, जो एक-दूसरे के अस्तित्व से उदासीन वर्षा की ठंडी मार खा रहे थे। उसने महसूस किया कि जिस भीड़ में वह खड़ा है, वह भीड़ भी कुछ ऐसी ही है और वह स्वयं भी उसी भीड़ की एक इकाई है।

सड़क पर बस छींटे उड़ाती हुई आ रही थी। बस के हॉर्न की आवाज सुनकर गधे सहसा बिदक उठे और किसी राष्ट्रीय अंतःप्रेरणा से सीधे गांधी गेट की ओर भागे। गेट के नीचे एकत्र भीड़, जो अपनी इकाइयों से उदासीन थी, इन नई इकाइयों के समावेश से बौखला उठी और उन्हें रास्ता देने के लिए दो भागों में बंट गई।

दो-तीन गधे अपने इस सम्मान को गंभीरतापूर्वक ग्रहण करके सधी हुई चाल से चलते हुए गेट के दूसरी ओर निकल गए। उनके पीछे तीन-चार गधे दोनों ओर की भीड़ को देखकर प्रसन्नतापूर्वक सिर हिलाते हुए ऐसे निकलकर गए, जैसे किसी अभिनंदनपत्र का उत्तर दे रहे हों। एक गधा, जो स्वयं बाहर ठहरकर दूसरों को पहले निकलने का अवसर दे रहा था, सबके अंत में पुलिस इंस्पेक्टर की तरह प्रविष्ट हुआ और एक बार अपने शरीर को चारों ओर घुमाकर, रुककर और जाते हुए गरदन ऐंठकर नथुने फुलाता हुआ यह व्यक्त कर गया कि उसे इस तरह के डिसिप्लिन से तनिक भी संतोष नहीं। उस गधे के निकल जाने पर बीच की दरार फिर से मिल गई। परंतु उस दरार के मिलते न मिलते एक कर्कश स्वर उभरकर सुनाई देने लगा। यह स्वर किसी अभ्यस्त स्त्री-कंठ से गालियां निकलने का था—'रंडी! कुत्ती! खसमां नूं खानी!'

रवि ने देखा कि गालियां देने वाली की बुझी हुई आंखें राजकरनी को घूरकर देख रही हैं। वे आंखें, जो लाल होने की असफल चेष्टा कर रही थीं, वास्तव में इतनी बुझी हुई थीं कि उनमें कोई भी भावना अपनी झलक नहीं दिखा सकती थी। गालियां देने वाली की आयु तीस-बत्तीस से अधिक नहीं थी, परंतु उसके सूखे और काले होंठों में जीवन नाममात्र को भी नहीं था। फिर भी वह इतने आवेश में आकर गालियां दे रही थी, मानो उन गालियों पर ही उसके जीवन की विजय या पराजय निर्भर करती

हो।

'अंधी हो गई है रंडी! बहुत मस्ती चढ़ी है, तो जाकर अपने यारों को दिखा!'

परंतु राजकरनी चुपचाप थी। वह लड़की, जिसे कृष्णनगर के उस मोहल्ले की लड़कियां 'बिल्ली', 'बाघनी', 'रीछनी' कहा करती थीं, आज मरे हुए शिकार की तरह न कुछ सुन रही थी, न समझ रही थी।

राजकरनी की चुप्पी से गालियां देने वाली और भी उत्तेजित होती जा रही थी—'मां रंडी मर गई सौदे करती···!'

सहसा राजकरनी भड़क उठी—'मां को गाली मत दे री, नहीं तो यहीं पर भुरता कर डालूंगी!'

उत्तेजना में उसका जो स्वर रवि ने सुना, वह वही था, जो वह लाहौर में सुना करता था। रवि ने महसूस किया कि उसके अंदर आज भी वही लहू है, जीवन है और जीने की शक्ति है—वह क्रोध में उबलकर फिर से वही हो गई है, जो पांच साल पहले थी।

'कर दे भुरता, तुझे जवानी की मार! कुछ आजादी ने किया है, कुछ तू कर दे!' और गालियां देने वाली रोने लगी।

राजकरनी फिर मुरझा गई। क्षण भर के लिए जो लाली उसके चेहरे पर आई थी, वह अदृश्य हो गई, और उसके स्थान पर वही निर्जीवता फैल गई, जो पांच साल से उसकी कोमलता को, उसके शरीर की चिकनाहट को, उसके कपड़ों की सफेदी को और उसकी रोटियों के स्वाद को खा रही थी। परंतु उस क्षण भर की लाली ने जिन-जिन आंखों को अपनी ओर खींचा था, वे आंखें उसके चेहरे पर जमी रह गईं। रवि ने देखा कि उन आंखों में वही लूटने वाला भाव है, जो पतंग लूटने वाले बच्चों की आंखों में था। उसने चाहा कि वह उसे बांह से पकड़कर उन आंखों से परे ले जाए, परंतु···फिर वही प्रश्न सामने आया कि किस संबंध से? और संबंध से नहीं, तो किस उद्देश्य से?

वर्षा थम जाने पर जब रवि सड़क पर आया, तो उसने महसूस किया कि वह उसे एक कटी हुई पतंग को लूटने वालों की भीड़ में छोड़ आया है, परंतु जब वह उस भीड़ से दूर पहुंच गया, तो उसे महसूस हुआ कि उसकी अपनी स्थिति भी उस बालक जैसी है, जो सड़क के किनारे खड़ा होकर पुकार रहा था—'छीपो! मेरा ई माल! छीपो! मेरा ई माल!'

गुमशुदा

कहानी : मोहन राकेश

दरम्याने कद का आदमी था वह, कुछ दुबला, मगर बहुत दुबला नहीं। बाल ठीक ढंग से कटे हुए थे, मगर कुछ इस तरह उलझे हुए थे कि लगता था, जैसे जरूरत से ज्यादा बढ़ गए हों। आंखें बहुत पैनी थीं, और बहुत ही अस्थिर। किसी एक जगह वे दस सेकंड से ज्यादा टिक ही नहीं पाती थीं। एकाध बार मैंने उसे पहले भी देखा था, कनॉट प्लेस के किसी बरामदे में से गुजरते हुए। यूं हजारों आदमी उन बरामदों में पास से निकल जाते हैं, मगर मन पर उनकी कोई छाप ही नहीं रहती। उन्हें देखना एक दरिया की लहरें देखने की तरह होता है। मगर इसकी बात अलग थी। तब भी, जब मैंने इसे देखा था, तो मुझे लगा था, जैसे कोई चीज मुझसे कंधा छीलकर निकल गई हो, या गर्द का कोई जर्रा आकर आंख में अटक गया हो और हजार कोशिश करने पर भी निकल न रहा हो।

और इस बार वह मेरे बिलकुल पास ही बैठा था। बीच में एक शीशे की मेज थी और उसके एक तरफ वह था और दूसरी तरफ मैं। उसके हाथ में शाम का अखबार था, जिसे वह पढ़ नहीं रहा था। कॉफीहाउस में उस समय काफी भीड़ थी, शोर था और कहकहे लग रहे थे। हम दोनों अपनी-अपनी कॉफी पी चुके थे और मैं वहां से उठने की बात सोच रहा था। वह आदमी मेरे लिए अजनबी था और किसी अजनबी के साथ ज्यादा देर एक मेज पर बैठे रहना बहुत अजीब लगता है। और मैं उठ भी गया होता, अगर अचानक ही उसने बात शुरू न कर दी होती।

'काफी गर्मी हो गई है।' उसने एक नजर छत पर डालकर कहा—'अब तो इन लोगों को यहां पंखे चला देने चाहिए।' और उसके स्वर से मुझे ऐसा लगा कि अगर पंखे चल रहे होते, तो भी वह छत पर नजर डालकर कहता—'अभी इतनी गर्मी कहां हुई है? और इन कमबख्तों ने अभी से पंखे चला दिए हैं।'

बात का जाल ऐसा होता है कि एक बार ऊपर आ पड़े, तो उसमें से अपने को निकाल लेना बहुत कठिन हो जाता है। मैंने उसकी बात के उत्तर में कहा—'जी हां, गर्मी तो इस साल काफी जल्दी ही उतर आई है।' और उसने झट से मुझे अपनी

बातों के जाल में ले लिया। दो मिनट मौसम की बात करके वह राजनीति की बात करने लगा और फिर साहित्य के रास्ते से होता हुआ रंगमंच की बात पर आ गया। वह बहुत तेजी से बात कर रहा था, जैसे उसे डर हो कि कहीं उसका जाल ढीला न पड़ जाए और मैं उसमें से निकलकर चल न दूं।

मुझे भी कोई काम नहीं था, इसलिए मैं उससे बात करता बैठा रहा। मगर आध-पौन घंटे के बाद जब मैंने फिर चलने के इरादे से अपनी कमर सीधी की, तो वह बोला—'आप शायद बहुत जल्दी में हैं।'

'नहीं, जल्दी में तो नहीं हूं।' मैंने कहा—'मगर अब यहां बैठे काफी देर हो गई है, इसलिए सोचता हूं कि अब यहां से चलना चाहिए।'

'मैं भी अब यहां से उठने की सोच रहा हूं।' वह बोला—'आपको फुरसत हो, तो चलिए, चलकर कोई पिक्चर देखी जाए। मुझे अकेले पिक्चर देखना कभी अच्छा नहीं लगता। वैसे तो पिक्चर-इक्चर सब ऐसी ही होती हैं, मगर दो-ढाई घंटे तो बीत ही जाते हैं। फुरसत हो तो चलिए। मुझे कहने का हक नहीं है, फिर भी मैं कह रहा हूं। चल सकते हों, तो जरूर चलिए।'

'देखिए, इस समय...।' मैं टालने की कोशिश करने लगा।

'आप टालिए नहीं।' वह झट से बोला—'मुझे अकेले जाना अच्छा नहीं लगता और कोई बात नहीं। यही समझिएगा कि दो-तीन घंटे किसी के लिए जाया कर दिए। हां, तो जहां तक हमारे रंगमंच की तकनीक का सवाल है...'

और उसने इस तरह आगे बात करनी शुरू कर दी, जैसे मेरे साथ चलने की बात तय हो ही गई हो। मुझे उस समय फुरसत ही फुरसत थी और मैं पिक्चर देखने न जाता, तो घर जाकर कोई किताब पढ़ता। मैं उसके साथ पिक्चर देखने चला गया। मगर हॉल में बैठे हुए मुझे लगता रहा कि वह सामने पर्दे पर जो कुछ हो रहा है, उसे नहीं देख रहा, अपने ही अंदर के पर्दे की किन्हीं तस्वीरों में उलझा हुआ है। सारा समय वहां भी वह इतना अस्थिर लग रहा था कि लगता था किसी भी समय वहां से उठकर बाहर चल देगा। जब हम सिनेमाघर से बाहर निकले तो वह हठ करने लगा कि मैं खाना भी उसके साथ खाऊं और घंटे भर में जब हम एक रेस्तरां से खाना खाकर बाहर आए, तो वह अनुरोध करने लगा कि थोड़ी देर लॉन में बैठकर कुछ बातचीत की जाए। मुझे सचमुच उसके साथ रहना भारी था, मगर उसके साथ सिनेमा देखने और खाना खाने के बाद मैं अब एकदम से दामन छुड़ाकर जा भी नहीं सकता था।

'मैंने आज आपका बहुत समय बर्बाद किया है,' कनॉट प्लेस के बीच के लॉन

में बैठकर उसने बांहें पीछे को फैलाए हुए कहा। उन कुछ घंटों में मुझे इस तरह लगने लगा था, जैसे वह गर्द का जर्रा इस बुरी तरह मेरी आंख में गड़ रहा हो कि मेरी आंख फूलने को आ गई हो। एक तो उसका हुलिया ऐसा था, फिर उसने कपड़े बहुत ढीले-ढाले पहन रखे थे और सबसे चुभने वाली बात यह थी कि वह बात करते हुए चारों तरफ इस तरह देखता रहता था, जैसे उसकी कोई चीज वहां पर खो गई हो और उसे हर आदमी पर चोर होने का संदेह हो। 'सचमुच मैंने आपका बहुत ही समय बर्बाद किया है।' वह कहता रहा, 'मगर मैं सोचता हूं कि हम जिंदगी में कुछ भी करें, उसमें समय बर्बाद ही तो होता है। समय का उपयोग क्या है? और इनसान की जिंदगी का ही उपयोग क्या है?'

अच्छा खाना खा चुकने के बाद बहुत-से लोगों पर निराशावाद का भूत सवार हो जाता है, मगर मुझे यह भरे हुए पेट का निराशावाद न लगकर उससे कहीं गहरी चीज लग रही थी। वह अचानक सीधा होकर बैठ गया और कहने लगा—'मैं अपनी जिंदगी को ही देखता हूं। मेरी कुछ समझ में नहीं आता कि मैं क्यों जी रहा हूं। मेरे पास अच्छी नौकरी है, अच्छा सजा हुआ घर है, सुंदर पत्नी है जो मुझसे काफी प्रेम करती है, काम करने के लिए नौकर हैं, सब कुछ है, मगर फिर भी मुझे जिंदगी फीकी-फीकी और अर्थहीन-सी लगती है। मेरी कुछ समझ में ही नहीं आता कि मैं क्यों जी रहा हूं? मैंने अपनी जिंदगी में कई तरह के काम करके देखे हैं। एक जमाना था, जब मुझे कला का शौक था और मैं अपने को रंगमंच और चित्रकला में खो देना चाहता था। मगर थोड़े ही दिनों बाद मुझे वह सब निरर्थक लगने लगा और मैंने एक बीमा कंपनी में नौकरी कर ली। उसके बाद मैं विदेश चला गया और कुछ दिन वहां एक पत्र का संवाददाता रहा। यहां लौटकर और कुछ करने को नहीं मिला, तो एक होटल में मैनेजर लग गया। आजकल मैं एक इम्पोर्ट और एक्सपोर्ट के दफ्तर में नौकर हूं और मुझे बारह सौ के लगभग तनख्वाह मिलती है। मगर फिर भी मुझे हर चीज बेकार लगती है, और पांच बजे जब मैं दफ्तर से निकलता हूं, तो मुझे कुछ समझ ही नहीं आता कि मुझे क्या करना चाहिए। क्लब मुझे बकवास लगते हैं, घर में बंद होकर मुझसे नहीं बैठा जाता, कहीं आना-जाना मुझे अच्छा नहीं लगता। समय बिताना मुझे इतनी बड़ी समस्या लगती है कि मैं आपको बता नहीं सकता।'

एक तो मुझे उससे सहानुभूति हो रही थी और दूसरे उसने मेरे ऊपर इतना खर्च किया था, इसलिए मैं भी बदले में उसके लिए कुछ करना चाहता था। मैं उससे इस विषय में बात करने लगा कि इनसान की जिंदगी को देखने का नजरिया ठीक हो, तो जिंदगी कभी उसे निरर्थक नहीं लग सकती क्योंकि व्यक्ति की या समय की

परिस्थितियां कितनी भी खराब क्यों न हों, जीवन अपने में निरर्थक नहीं है। और अपनी बात उसके दिमाग में बिठाने के लिए मैं अपना आज तक का पढ़ा-सुना-सोचा हुआ सब कुछ काम में ले आया।

वह बांहें पीछे फैलाए और आंखें बंद किए हुए चुपचाप मेरी बातें सुनता रहा। बीच-बीच में वह कभी कह देता—'मगर क्यों? मगर कैसे?' और फिर चुप होकर सुनता रहता। यह सोचकर कि मैं एक व्यक्ति के जीवन से निराशावाद को निकालने में सहायक हो रहा हूं, मैं बहुत उत्साह से अपनी बात स्पष्ट करने का प्रयत्न करता रहा, यहां तक कि बोलते-बोलते मेरा गला थक गया। शायद मैं डेढ़ घंटे से ज्यादा बोल गया था।

जब मैंने अपनी बात समाप्त की, तो उसने आंखें खोलीं, और थोड़ा मुस्कराया।

'मैं आपसे एक बात कहूं?' वह बोला—'इस तरह की जितनी भी बातें लोग कहते हैं, या कह सकते हैं, मैं उन्हें भी बिलकुल निरर्थक समझता हूं। ये बातें भी समय काटने का एक बहाना ही हैं···आइए, अब चला जाए।'

और वह उठा, तो मैं भी खिसियाना-सा उसके साथ ही उठ खड़ा हुआ। लॉन से बाहर फुटपाथ पर आकर उसने अपना हाथ मेरी तरफ बढ़ा दिया—'मैं आपका बहुत ही शुक्रगुजार हूं।' उसने कहा—'आज मेरी बीवी भी घर में नहीं है और मेरे लिए समय काटना सचमुच बहुत ही कठिन हो रहा था। आपकी वजह से इतना अच्छा समय बीत गया। अब मैं समझता हूं कि घर जाकर मुझे ठीक से नींद आ जाएगी। अच्छा···।'

और उसके चले जाने के बाद काफी देर मैं सड़क पार करके सामने के फुटपाथ तक भी नहीं जा सका। रात के बारह बज रहे थे, इक्का-दुक्का गाड़ियां सड़क से गुजर रही थीं और मैं अनायास ही हाथ से अपने थके हुए गले को सहला रहा था···।

लेकिन इस तरह···

कहानी : मोहन राकेश

रवि को इस अहसास से चोट-सी लग रही थी कि हर चीज ज्यों की त्यों है, ईंटें, सीखचे और किवाड़ सब अपनी जगह पर हैं, दीवार पर चींटियों की पंक्तियां उसी तरह रेंग रही हैं, सिल-बट्टा वैसी ही आवाज कर रहा है और चौक में दौलत इक्के वाला अपनी मरियल घोड़ी की लगाम पकड़े रोज की तरह ही फटी हुई आवाज में सवारियों को बुला रहा है—'चाली नियामी हाड़ियां आले कोई इकला सवार, आ जाओ भई, चाली नियामी हाड़ियां आले।' हालांकि राजकरनी मर गई है।

मां मसाला पीस रही थी। कुंतल दीदी चारपाई पर खामोश बैठी थीं और स्कूल की माई जीतो पास फर्श पर बैठी हाथ मल रही थी—'बहन जी, आपको क्या-क्या बताऊं, यह तो वहां रोज-रोज की बात थी। रात को इनके घर जाओ तो भी वह वहीं पर होता, दिन में जाओ तो भी। आज मास्टर जी के लिए हलुआ बन रहा है तो आज उनके लिए मालपुए बन रहे हैं। मैं तो अचरज से देखती रह जाती थी। कोई किसी सगे-संबंधी की क्या खातिरदारी करेगा, जो इनके घर में मास्टर जी की होती थी! मगर हम छोटे लोग हैं, छोटों का मुंह अपना नहीं होता। मैं दांतों से जबान काट लेती थी, मगर मैंने आज तक किसी से बात नहीं की। मैं कहती थी कि किसी तरह उसके कान तक बात पहुंच गई कि माई बाहर जाकर बातें करती है तो मेरी तो रोजी पर लात पड़ सकती है। मेरी अपनी ब्याहने लायक जवान लड़की है, मैं उसे लेकर कहां जाऊंगी?'

सिल और बट्टे के बीच में कच्चे प्याज किच-किच कर रहे थे। मां के माथे से बहती हुई पसीने की धारें उसके गले तक उतर आई थीं। उसके चेहरे पर ऐसे गहरी लकीरें खिंच गई थीं, जैसे वह कई दिनों से अस्वस्थ हो। बीच-बीच में उसकी पीली आंखें रवि की ओर उठ जाती थीं, जैसे उसका महत्त्व और दिनों की अपेक्षा आज बढ़ गया हो, जैसे वह छोटे से एकदम बड़ा हो गया हो और वह उसके कंधे पर हाथ रखकर कहना चाहती हो कि हमारे घर में तू मर्द है, तेरे रहते हमें कोई खतरा नहीं। रवि इस तरह निःसंग भाव से खिड़की के पास बैठा था, जैसे उसके लिए इसमें विशेष

अंतर न हो कि राजकरनी की मृत्यु हुई है या सामने के पनवाड़ी की, जो वर्षों से दमा से पीड़ित था। मां उसकी ओर देखती तो वह या तो बाहर की ओर देखने लगता या पुस्तक के पन्ने पलटने लगता।

'और उससे पूछो,' जीतो कह रही थी। 'तू ब्याहा हुआ आदमी है, तू सारा-सारा दिन उसके घर क्यों बैठा रहता था? सारा मुहल्ला मुंह में उंगली डालता था कि इसकी मां अंधी है, जो उसे दिखाई नहीं देता कि घर में क्या हो रहा है?'

'इसीलिए मैं उसका घर में आना पसंद नहीं करती थी,' कहते हुए कुंतल ने रवि की ओर देखा। रवि ने पुस्तक का पन्ना ऐसे पलट दिया जैसे पहले का पन्ना पूरा पढ़ लिया हो। उसकी कनपटियों की नसें फड़कने लगीं।

'स्कूल में भी दिन-भर भाई जी की ही चर्चा करती रहती थी,' कुंतल कहती रही। 'सत्या जी के सामने तो खास तौर से और नवीं-दसवीं की लड़कियों में इस तरह घुल-मिल जाती थी, जैसे अध्यापिका न होकर उन्हीं में से एक हो। मैं तो डर रही थी कि इस तरह स्कूल का डिसिप्लिन बिगड़ जाएगा और बाद में दोष मुझ पर आएगा कि हेड मिस्ट्रेस ठीक से कंट्रोल नहीं करती। हम लोग सादगी की दुहाई देते मर जाते हैं, और यह रोज जूड़े में फूल लगा आती थी···!'

'ना कुंतल, मरे हुए की निंदा नहीं करते।' मां ने हाथ रोककर उसे टोका और बांह से माथे का पसीना पोंछकर आकाश की ओर हाथ जोड़ दिए कि हे प्रभु, लड़की से कोई ऐसी-वैसी बात कही गई हो तो क्षमा करना, त्रुटियां किसमें नहीं होतीं, हम सब त्रुटियों के भंडार हैं, तू हमारे अपराधों को क्षमा कर और मृत आत्मा को शांति दे। और पसीने के कारण शरीर से चिपकी हुई धोती से ही शरीर का पसीना पोंछकर वह फिर सिल-बट्टे के साथ व्यस्त हो गई।

कुंतल के गोल चेहरे पर धार्मिक गंभीरता छा गई और वह क्षति-पूर्ति के रूप में राजकरनी के गुणों की चर्चा करने लगी—'वैसे काम में अच्छी थी, मेहनत से पढ़ाती थी, सफाई की देखभाल भी ठीक से कर लेती थी, मगर किसी की आदत होती है न···।'

रवि जैसे सुनता हुआ भी नहीं सुन रहा था और जैसे न सुनता हुआ ही उठ खड़ा हुआ और पिछले कमरे में चला गया। उस कमरे में दिन-भर अंधेरा रहता था। वहां एक ओर मां के ठाकुर जी का सिंहासन था और दूसरी ओर बिंदु की गुड़िया का घर।

उसे पिछले साल के वे दिन याद हो आए जब वह इसी तरह गर्मी की छुट्टी में घर आया था और इसी तरह उस कमरे में बैठकर बिंदु और उसकी गुड़िया के साथ

खेला करता था। कुंतल स्कूल चली जाती थी और दिन-भर घर में कुछ भी करने को नहीं होता था। वह गुड़िया से नहीं खेलता तो चारपाई पर लेटा छत के शहतीरों और उनके बीच से दिखाई देती लाल ईंटों को देखता रहता या बिंदु का घोड़ा बनकर उसे सवारी कराता। मां बीच-बीच में पूछ लेती कि क्या बजा है, अभी खाने का समय हुआ है या नहीं। वही सिल-बट्टे की घरड़-घरड़ और दौलत इक्के वाले की आवाज–'चाली नियामी हाड़ियां आले, कोई इकल्ला सवार, आ जाओ भई, चाली नियामी हाड़ियां आले··· ।' सफेद दीवारें, नीली खिड़कियां और नीचे धूल-भरी वीरान सड़क, जिसका नाम तो था, रावी रोड, मगर वो जाती थी एक पतली-सी नहर तक, जिसमें एक बार नहा लिया जाए, तो दो बार घर आकर नहाना पड़ता था। उससे दिन काटे नहीं कटते थे।

और उन्हीं दिनों बड़े आकस्मिक ढंग से उसका राजकरनी से निहायत छोटा-सा परिचय हुआ था।

कुंतल की प्रेरणा से स्कूल की कमेटी के सदस्यों ने वहां एक साहित्य-सम्मेलन का आयोजन किया था। दिल्ली से गंगा देवी उसके अंतर्गत महिला सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए आ रही थीं। काफी दिनों से कुंतल का उनके साथ पत्र-व्यवहार था और वह बहुत प्रसन्न थी कि उसके अनुरोध पर गंगा देवी ने उस साधारण कस्बे में आना स्वीकार कर लिया है। उनका बड़ा लड़का, जो एक कपड़े की मिल में चीफ इंजीनियर था, साथ आ रहा था। उन दोनों के ठहरने का प्रबंध अलग बंगले में किया गया था, जो अभी पूरा नहीं बना था, परंतु उस अवसर के लिए ठीक कर लिया गया था। स्कूल की कमेटी के मंत्री भाई रूड़मल सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने कुंतल से कहकर रवि को यह भार सौंपा था कि वह सम्मेलन के दिनों में उन दो अतिथियों के पास रहे। उनके भोजन इत्यादि का प्रबंध भाई जी के घर से होना था।

उन लोगों को चार बजे की मेल से आना था। स्टेशन पर रवि को पता चला कि वहां से भाई जी की कार उन्हें बंगले पर ले जाएगी। उसके बंगले पर पहुंचने से पहले ही वे लोग वहां पहुंच गए।

दरवाजे के अंदर पांव रखते ही उसका राजकरनी के तमतमाए हुए चेहरे से सामना हुआ। वह ठिठक गया। राजकरनी तेजी से बढ़कर उसके निकट आ गई।

'आप लोगों ने यह जगह उनके लिए ठीक की है?'

'क्यों?' रवि ने पूछा।

'उन्हें मुंह-हाथ धोने का पानी चाहिए और यहां नल ही नहीं है। उन्हें चाय चाहिए और यहां न आग है, न दूध-पत्ती है और न कोई आदमी है।'

रवि वहीं से लौट पड़ा।

'ठहरिए, मैं भाई जी के घर से पता करता हूं।' उसने कहा।

'आप अभी पता करेंगे! किसी को पहले यह खयाल नहीं आया कि जो लोग आ रहे हैं, उनके लिए हर चीज का प्रबंध होना चाहिए? अब वे लोग घंटा भर मुंह देखते बैठे रहेंगे?'

रवि जल्दी-जल्दी चलकर भाई जी के घर पहुंचा। वहां पर बीस-बाईस मेहमान ठहरे हुए थे और सब लोग उन्हें चाय पहुंचाने के लिए दौड़-धूप कर रहे थे। मंदिर के मुखिया विश्वंभर दास अपने पोपले मुंह से एक-साथ कई-कई आदेश दे रहे थे। वहां लगता था कि हर आदमी भाग रहा है, फिर भी कोई काम नहीं हो पा रहा। भाई जी वहां नहीं थे। रवि के तीन-चार बार कहने पर उसकी बात मुखिया जी की समझ में आई तो वे झल्लाकर बोलने लगे–'मेरे पास नहीं हैं आदमी। मैं कहां से दूं? बोलिए, कहां से लाऊं आदमी? बताइए। जमीन खोदकर निकलते हों आदमी तो निकाल लूं। यहां मेरे पास कोई नहीं है। उन्हें कहिए यहीं पर आ जाएं, यहीं नल पर हाथ-मुंह धो लें और एक-एक प्याली चाय की पी लें।'

काफी देर मुखिया जी के इर्द-गिर्द घूमकर रवि ज्यों का त्यों लौट आया। राजकरनी उसे गेट के पास ही मिल गई।

'देखिए, मैं आपसे माफी चाहती हूं।' उसने उसे देखते ही कहा।

'क्यों?' रवि ने आश्चर्य के साथ उसकी ओर देखा।

'मैंने उस समय गुस्से में कह दिया था। मुझे नहीं पता था, आप कुंतल जी के भाई हैं।'

'आपने कोई ऐसी बात तो नहीं कही।'

'फिर भी आपको बुरा तो लगा ही होगा। उस समय एक लड़की अंदर थी। उसने मुझे बाद में बताया कि आप कुंतल जी के भाई··· ।'

रवि को लगा कि उसकी आंखों में क्षमा-याचना के अतिरिक्त एक और भी भाव है।

'मेरी चार दिन यहां पर ड्यूटी है।' उसने कहा। 'परंतु अब तक मुझे यह नहीं बताया गया कि मुझे करना क्या है।'

'आपकी चारों दिन यहां पर ड्यूटी है?' रवि ने सिर हिलाया।

'मेरी भी चारों दिन ड्यूटी है। आपकी यहां है, मेरी पता नहीं यहां है या कहां है?'

कहकर वह फीकी-सी हंसी हंसी, और एक क्षण के लिए उसे गौर से देखती रह गई।

'चाय का प्रबंध नहीं हुआ?' राजकरनी ने क्षण-भर के उस मौन विराम को जैसे तोड़ते हुए पूछा।

रवि ने उसे मुखिया का किस्सा सुना दिया।

'अजब मुसीबत है।' वह बोली—'इंजीनियर साहब अभी बड़बड़ाते हुए भाई जी को ढूंढ़ने गए हैं। वे कहते हैं कि वे सात बजे की मेल से वापस चले जाएंगे।'

'सफर से आकर इनसान को पानी तक न मिले तो वह और क्या करे?'

कई क्षण वे लोग खामोश रहे।

'आप संभवतः मुझे नहीं जानते, सहसा राजकरनी की आंखें उससे मिल गईं। मैं कुंतल जी के स्कूल में पढ़ाती हूं। संभव है आपने कुंतल जी से नाम सुना हो। राजकरनी।'

और जैसे तभी उनका परिचय हुआ, ऐसे उन्होंने एक-दूसरे को हाथ जोड़ दिए।

'आप शायद इसी वर्ष आई हैं?'

राजकरनी ने सिर हिलाया।

'कैसी लगी, यह जगह आपको?'

'नौकरी करनी हो तो बुरी जगह भी अच्छी है और अच्छी जगह भी अच्छी नहीं। साथ ही उसके गले से मीठी हंसी का स्वर उत्पन्न हुआ। उसके दांत बहुत सफेद और छोटे-छोटे थे।'

'यह तो टालने की बात है।' वह भी मुस्कराया। जैसे शब्दों और भाव-भंगिमाओं में वे अलग-अलग बातें कर रहे हों।

'कुंतल जी तो चार साल से पढ़ाती हैं। उनसे आपने नहीं पूछा?'

रवि ने महसूस किया कि उस 'तो' में कहीं व्यंग्य की भी रेखा है।

'दीदी तो अब अभ्यस्त हो गई हैं।' उसने कहा—'और यूं भी वे जहां कहीं भी रह सकती हैं।'

'हां, उनका स्वभाव बहुत सीधा है।'

'लगता है, आपका दिल नहीं लगा।'

'नहीं, जगह ऐसी बुरी नहीं है।'

सहसा वे लोग चौंक गए। चीफ इंजीनियर साहब, भाई जी और सत्या जी गली का मोड़ मुड़कर आ रहे थे।

'आप लोगों की यह बातें करने के लिए ड्यूटी लगाई गई थी?' निकट आते

हुए भाई जी ने क्रोध से कांपते हुए स्वर में पूछा।

रवि के होंठ क्रोध से कांपे परंतु इससे पहले कि वह कुछ कहता, राजकरनी भाई जी के सामने चली गई।

'देखिए, यहां न नल में पानी है और न चाय का सामान है…।'

'तो सामान आप घर से नहीं ला सकती थीं?' सत्या जी बैठे हुए स्वर में बोल उठीं, 'ऐसे अवसर पर आदमी कुछ काम अपनी समझ से भी कर लेता है। ये घंटे भर से आए बैठे हैं। इतनी देर में तो नया सामान खरीदकर चाय बनाई जा सकती है।'

खादी की सलवार-कमीज और दुपट्टे में सत्या जी का दुबला शरीर और भी दुबला लग रहा था। स्वर में अधिकार-भावना के अतिरिक्त तिरस्कार करने की भावना भी थी। उनकी आंखें जैसे राजकरनी की आंखों में चुभ जाना चाहती थीं।

'आप अंदर चलकर बैठिए, मैं अभी सब प्रबंध करता हूं।' भाई जी ने इंजीनियर साहब से कहा। 'मेरी लड़की दस मिनट में आपके लिए चाय बना देती है। अभी मैं घर से सब सामान भेजता हूं। यहां वही काम होता है जो अपने हाथों से किया जाए। यह लोग तो समझते हैं कि बस…'

और उन्हें पिटे हुए मोहरों की तरह छोड़कर वे घर की ओर चले गए। सत्या जी इंजीनियर साहब के साथ अंदर चली गई। रवि ने राजकरनी की ओर देखा। वह कठिनता से अपनी रुलाई रोके हुए थी।

'चलिए, अब हम लोगों की यहां से छुट्टी हो गई।' उसने रूखी-सी मुस्कराहट के साथ कहा।

राजकरनी ने अपना निचला होंठ काटकर, आंखें झपका लीं।

'यहां ऐसे छुट्टी नहीं होती।' लेकिन इस तरह… उसने कहा और सिर को एक बार झटककर अंदर चली गई।

फिर जब तक वह छुट्टियों में रहा, राजकरनी से मिलना नहीं हुआ था। और इस बार आते ही पता चल गया था कि अब उससे मिलना नहीं होगा। कुछ हो गया था, जो उसे पता नहीं था। अंधेरे कमरे में चुपचाप उसी चारपाई पर लेटे हुए वह देख रहा था—राजकरनी कुछ कहते हुए बीच-बीच में एक क्षण के लिए उसे गौर से देखती रह जाती थी और फिर खुद ही उस क्षणिक मौन विराम को तोड़कर कुछ ऐसी बात शुरू कर देती थी, जिसका कोई संदर्भ नहीं होता था। वह शायद चाहती तो कुछ भी नहीं थी, सिर्फ कुछ कहना चाहती थी…कि यों तो यहां या कहीं भी सब कुछ ठीक है, लेकिन इस तरह…

पंप

कहानी : मोहन राकेश

पहले-पहल पुष्पा को मैंने घर के सामने पंप पर पानी भरते देखा था। उसकी आंखें मोटी कौड़ियों जैसी थीं। उसने दो-तीन बार आंख भरकर मुझे देखा तो मुझे लगा था कि या तो मेरे बाल बहुत अधिक सफेद हो गए हैं या मैं अपनी उम्र से चार-पांच साल छोटा लगता हूं। नहीं तो कोई कारण नहीं था कि वह सहज विश्वास भरी दृष्टि से मुझे देखती, मानो कह रही हो चलो, आंखमिचौनी खेलते हो?

पुष्पा की उम्र तेरह साल होगी। अधिक से अधिक चौदह साल होगी। उसका रंग गोरा पंजाबी था। उसके शरीर को पूरा खिलने में अभी दो-तीन साल रहते थे, फिर भी उसकी आंखों में वह विस्मय भर गया था जो यौवन का अर्थ पहले-पहल समझने पर कुछ दिनों के लिए रहता है। उसे जैसे आश्चर्य था, कि क्या वह अकेली ही जानती है कि गुलाब का रंग गुलाबी क्यों है?

'पानी ले लीजिए।' पुष्पा ने अपनी बाल्टी हटाकर मुझसे कहा।

'नहीं, तू भर ले।' मैंने यह सोचकर कहा था कि शायद वह मेरे सफेद बालों का सम्मान कर रही है।

'आपको दफ्तर जाना है, आप भर लीजिए।' उसने फिर कहा। मुझे खुशी हुई कि उसे मेरे अस्तित्व का पता है, कामकाज का पता है और उसका लिहाज मेरे सफेद बालों तक ही सीमित नहीं।

'तेरा नाम क्या है?' मैंने अपनी बाल्टी में पानी भरते हुए पूछा।

'पुष्पा।' उसने संकोच के साथ उत्तर दिया।

'किस क्लास में पढ़ती हो?'

वह और भी संकुचित हो गई। बिना मेरी ओर देखे बोली—'मैं स्कूल नहीं जाती।'

'क्यों?' मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी अच्छी आंखों वाली लड़की स्कूल क्यों नहीं जाती? वैसे मैं किसी लड़की से ज्यादा सवाल नहीं पूछा करता, क्योंकि वे जरा-से परिचय को घनिष्ठता समझने लगती हैं। पर पुष्पा अभी उस रेखा से दूर थी, जहां

जाकर एक लड़की मेरे लिए लड़की बन जाती है।

'मैं यहां नहीं रहती।' पुष्पा ने कुछ इस तरह कहा, जैसे मेरा प्रश्न बिलकुल असंगत रहा हो। मैं बापू के साथ गांव से आई हूं। बापू को यहां काम है। उसका काम हो जाएगा तो हम फिर अपने गांव चले जाएंगे।

मैंने देखा कि उसकी आंखों ने अभी लजाना नहीं सीखा। उसके अंदर अभी वही ताजगी थी, जो नई बहार की कलियों में होती है। वह गांव से आई थी और गांव चली जाएगी। वहां जाकर वह सरसों के पीले-पीले फूलों से खेलेगी और मीठा नरम-नरम साग खाएगी। किसी रात को आग के पास हीर गाएगा तो वह विभोर होकर सुनेगी। नहीं तो सरसराती हवा का संगीत ही सही। वह उसके रोम-रोम को लोरी देकर सुला देगा।

सवेरे उठकर वह पशुओं को चारा देगी। प्रभात के स्वर उसे फुसलाएंगे तो वह नंगे पैरों नदी की ओर भाग जाएगी। जब तक मन में आएगा, तैरती रहेगी। लौटती हुई वह धान के खेत से मूलियां और शलजम उखाड़ लाएगी। उसके गीले बाल रूखे ही सूख जाएंगे, पर उसे चिंता नहीं होगी। उसके फूटते हुए वक्ष उसकी गीली कमीज में कटोरियां-सी निकाल देंगे, पर उसे उसका होश नहीं होगा। वह कभी गणित के प्रश्नों से नहीं उलझेगी। भूगोल की रेखाएं नहीं याद करेगी। कोश लेकर कविताओं के अर्थ नहीं ढूंढ़ेगी। पर वह जिधर देखेगी, उधर कविताएं फूटने लगेंगी।

अचानक मैंने देखा कि मैं पंप चलाए जा रहा हूं, हालांकि बाल्टी भर चुकी है और पानी इधर-उधर बिखर रहा है। अपनी अन्यमनस्कता छिपाने और पुष्पा के सौजन्य का बदला चुकाने के लिए मैंने अपनी बाल्टी उठाई और उसका सारा पानी पुष्पा की बाल्टी में डाल दिया।

'ऊई!' मैंने उसे कहते सुना, मेरी बाल्टी छू गई।

'छू क्यों गई?' मैंने कुछ लज्जित और अपमानित होकर पूछा।

पुष्पा ने शायद मेरे छिले हुए भाव को भांप लिया। उसने क्षमा मांगने के ढंग से कहा—'जी, मैं बाल्टी मांजकर लाई थी। आपकी बाल्टी मंजी हुई नहीं थी।'

यह सुनकर मेरी आत्मा फिर उदार हो गई। मैंने अपने को याद दिलाया कि बाल्टी को राख से मला जाए, तभी जाकर वह पवित्र होती है। फिर चाहे गलीज फर्श पर रखकर उसमें पानी भरो, चाहे चबाई हुई दातूनों के ढेर पर।

'मेरी बाल्टी भी मंजी हुई थी। मैंने सवेरे मांजी थी।' मैंने झूठ बोला। झूठ बोलना मेरी आदत है। बिना कारण के झूठ बोलता हूं। दिन में कई-कई बार बोलता हूं। यह मुझे अच्छा भी लगता है, मैं सच कहता हूं।

जो मुंह से झूठ नहीं बोलता, वह मन में झूठ बोलता है। जो मन में झूठ बोलता है, वह मुझसे ज्यादा खतरनाक है। क्योंकि वह सच का दावेदार है, इसलिए वह और भी झूठा है।

पुष्पा ने मुस्कराकर बाल्टी का पानी गिरा दिया और जमीन से मिट्टी उखाड़कर बाल्टी में मलने लगी। मैं अपनी बाल्टी में फिर से पानी भरने लगा।

किसी ने दूर से पुष्पा को पुकारा—'पप्पी!'

'आई बापू!' उसने पुकारकर उत्तर दिया।

'अभी पानी नहीं भरा?' आवाज आई।

'नहीं बापू!' उसने उत्तर दिया।

'जल्दी कर, सिरमुंडी!'

मैंने उधर देखा। एक लंबा, बूढ़ा जाट सामने की कोठी के बरामदे में खड़ा सिर पर पगड़ी लपेट रहा था। एक तो उसकी आवाज कर्कश थी, दूसरे उसकी सफेद दाढ़ी ऐसी नोकदार थी, जैसे उसी से वह मुर्गियां झटकता रहा हो। उसकी आंखों का रंग बतलाता था कि उसने रात को खूब शराब पी थी, पगड़ी लपेटकर उसने दाढ़ी पर हाथ फेरा और फिर पुष्पा को आवाज दी—'जल्दी कर, लाड़ की बच्ची, नहीं तेरा झोंटा सेकूं।'

यह देखकर कि मेरी बाल्टी अभी आधी भरी है, मैं जल्दी-जल्दी पंप चलाने लगा। जाट ने पीठ मोड़ ली। पुष्पा मेरी ओर दो कौड़ियों का एक दांव फेंककर मुस्कराई। उसकी मुस्कराहट ने मुझसे कहा, तुम बेवकूफ हो। बापू की गालियां बेटी को नहीं लगा करतीं।

उसके बाद दो-तीन बार मैंने पुष्पा को देखा। न जाने क्यों उसे देखकर हर बार मुझे गहरे लाल रंग के मखमली फूल याद आ जाते। बचपन में मैं वे फूल अपने कोट पर लगाया करता था।

दो-तीन बार पुष्पा के बापू को भी मैंने देखा—दातून करते, जूड़ा बांधते या गालियां बकते। उसकी मुझ पर कुछ ऐसी छाप पड़ी, जैसे बरसात होकर हटी हो और पुराने गले हुए टीन के छप्पर पर से महीनों का सूखा बीट पानी के साथ गल-गलकर टपक रहा हो।

उस दिन दफ्तर से लौटते हुए मैं अड्डा नकोदर से फर्लांग भर ही आया था, कि मैंने देखा कि सफेद दाढ़ी वाला वह जाट मुझसे दो कदम हटकर साथ-साथ चल रहा है। मैं जरा तेज चलने लगा। वह भी तेज चलने लगा। मैंने चाल धीमी कर दी।

मुझे यह कभी मंजूर नहीं कि मैं सड़क पर किसी के साथ-साथ चलूं, क्योंकि मैं जिसके साथ चलता हूं, वह अपेक्षा करता है कि मैं उसी की तरह चलूं और उसी की तरह सोचूं। पर कोई मेरे साथ-साथ चले तो यह मुझे बहुत अच्छा लगता है।

'कहां चल रहे हो, बाबूजी?' पुष्पा के बापू ने अपनी ओर खींचने के लिए पूछा।

'मॉडल टाउन।' मैंने इस अंदाज में कहा कि वह जान ले कि मैं एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हूं, और सिर्फ इसलिए पैदल चल रहा हूं कि मुझे संध्या के समय पैदल घूमने का शौक है।

'हम भी वहीं चल रहे हैं।' डॉक्टर गुरबख्श सिंह मदान को जानते हैं? वे हमारे ही गांव के हैं। शहर में आकर उन्हीं के घर हमारा डेरा होता है···चलो, राह चलते एक से दो भले।

मैंने कहना तो चाहा कि मेरे साथ चलने में उसे लाभ हो, उसके साथ चलने में मुझे कोई लाभ नहीं, पर इसलिए नहीं कहा कि कहीं दोआबा का जाट जोश में आकर मेरे सिर का पंजाब न बना दे।

'आप इधर के ही हैं?' जाट ने परिचय बढ़ाने की चेष्टा की।

'नहीं।' मैंने उत्तर दिया।

'तो जालंधर में कब से हैं?' मैंने उचित समझा कि वह जितने सवाल पूछ सकता है, उन सबका उत्तर एक साथ ही उसे दे दूं, जिससे उसकी जिज्ञासा पूरी शांत हो जाए। इसलिए मैंने कहा कि मैं दो महीने से यहां हूं। सेक्रेटेरियट में असिस्टेंट सुपरवाइजर हूं। वेतन एक सौ बीस रुपया है। ऊपरी आमदनी हो जाने की आशा है। अभी ब्याह नहीं हुआ। लड़की देख रहा हूं। पढ़ाई की चौदह जमातें पास की हैं। तरकारियों में मुझे गोभी पसंद है। फलों में मैं आम पसंद करता हूं। हर इतवार को शरीर पर कड़वे तेल की मालिश करता हूं। मेरी रोटी एक गढ़वाली पकाती है। उसकी उमर बीस साल है। यह सब उसे सुनाकर मैंने मन में कहा कि पूछ ताऊ, अब क्या पूछता है?

पर जाट ने फिर भी पूछा—'क्यों जी, गढ़वाली ने अभी तक लड़की का ब्याह नहीं किया?'

यह हद थी! मगर मैंने धैर्य नहीं छोड़ा। संतोष-असंतोष अपने घर की चीज है, पर पीठ का दर्द जाकर डॉक्टर को दिखलाना पड़ता है। मुझे अपनी आत्मा पर इस बात का गर्व है कि वह हवा का रुख देखकर फौरन तिरछी से सीधी हो जाती है। मैंने जाट का प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक समझकर उसका स्वाभाविक-सा उत्तर दिया—'उसकी लड़की विधवा है।'

'अच्छा! फिर तो वह उसे दूसरी जगह बिठाएगा?'

मैं आधुनिक इतिहास का विद्यार्थी होता तो गढ़वाली से पूछ रखता कि वह अपनी लड़की को दूसरी जगह बिठाएगा या नहीं? पर इतिहास में मेरी रुचि तैमूरलंग की लड़ाई तक ही रही है, उससे आगे नहीं। फिर भी, जाट को उत्तर देना आवश्यक था। उसकी मूंछों के बाल अंगड़ाइयां लेने लगे थे। मैंने रास्ता काटने की नीयत से कहा—'देखभाल तो कर रहा है। आगे लड़की की तकदीर है।'

'लड़की देखने में अच्छी है?' जाट ने पूछा।

'देखने में अच्छी है और स्वभाव की भी बहुत मीठी है।' मैंने यह इसलिए कहा कि कम से कम बात में तो थोड़ा रोमांस रहे।

'अच्छा जी!' जाट बोला, 'सच पूछो तो सबसे बड़ा गुण यही है। काम अच्छा करती है?'

'काम में वह सुस्त है। हां, बातें बहुत करती है।'

'अच्छा जी? रगों में जवानी हो तो काम नहीं सुहाता।'

उसकी टिप्पणी का मजा लेते हुए मैंने उसकी ओर देखा तो उसकी आंखों में भूखी बिल्ली की-सी जलन दिखाई दी। उसके होंठ बूढ़ी वासना की लार से गीले हो रहे थे। उसका रस-भंग करने के लिए मैंने रुककर जूतों को झाड़ा और कहा—'इन कच्चे रास्तों पर सरदार जी, जूतों का तो कचूमर निकल जाता है।'

जाट ने मेरे अभिनय और शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया। अपनी ही धुन में कहा—'बाबूजी, आज आपकी गढ़वाली से मुलाकात हो सकती है?'

'क्यों?' मैंने उसकी ओर देखकर पूछा।

'मुझे एक जमींदारनी की जरूरत है। बाबूजी।' जाट ने कहा—'मैं जमींदार हूं। पास के गांव में मेरी चार एकड़ जमीन है। पांच एकड़ जमीन जिला करनाल में है। उसका मैं यहां के गांव का लंबरदार हूं। घरवाली मर गई है। एक जवान लड़की है। उसका ब्याह कर दूं तो मेरी देखभाल करने वाला कोई नहीं है। घर में एक गाय और दो भैंसें हैं। घरवाली आ जाए तो उनका चारा-पानी हो जाएगा और मेरी भी दो रोटियां हो जाएंगी।' उसने मिन्नत के लहजे में कहा—'आपके गुण गाऊंगा सरकार, मेरा यह काम जरूर करा दीजिए।'

वह बोल रहा था, उसके शब्दों की गूंज अपना अर्थ मुझे और तरह समझा रही थी। वह कह रहा था—'मुझे औरत के गर्म मांस की जरूरत है, बाबूजी। मैं चाहे बूढ़ा हूं, पर अकेले के पास नौ एकड़ जमीन है। घर में गाय, भैंसें और सब कुछ है, सिर्फ औरत ही नहीं है। मेरी अपनी हड्डियों पर गर्म मांस नहीं रहा, पर बूढ़ी हड्डियां गर्म

मांस का चारा अब भी मांगती हैं। इनके लिए चारा चाहिए, सरकार, जैसे भी हो सके, इनके चारे का प्रबंध कर दीजिए।'

किसी तरह गला छुड़ाने के लिए मैंने कहा—'गढ़वाली, पंजाबियों के साथ ब्याह नहीं करते, सरदार जी। उसका बाप उसे किसी गढ़वाली के घर ही बिठाएगा।' मेरी बात सुनकर जाट ढीला हो गया। उसकी मूंछों के बाल, जो अब तक अंगड़ाइयां ले रहे थे, सुस्त होकर बैठ गए। वह ठंडी सांस लेकर बोला—'कहीं भी कामयाबी नजर नहीं आती। लोग कहते थे कि रिफ्यूजी के कैंपों से मिल जाती हैं। पर मैं सवा साल चक्कर लगाकर हार गया, कोई नहीं मिली। डॉक्टर साहब ने एक पहाड़िन चार सौ में ठीक की थी, पर वह भी मेरा दाढ़ा देखकर मुकर गई।'

'पर तुमको तो घर की देखभाल के लिए ही जरूरत है न, सरदार जी?' मैंने कहा—'एक नौकर क्यों नहीं रख लेते?'

'नौकर इतना काम नहीं दे सकता, बाबूजी! जमींदार का घर है। चार आने वाले, चार जाने वाले। फिर सेवा के लिए एक गाय, दो भैंसें। इतना कुछ तो घरवाली ही संभाल सकती है।'

'तो तुम चाहते हो कि जवान लड़की आकर तुम्हारे गुर्दे भी दुरुस्त करे और तुम्हारी गाय-भैंसों का दूध भी दुहे?'

'वह क्यों दुहे सरकार, वह आराम से घर में बैठे। दूध दुहने को हम क्या मर गए हैं?'

यह आजमाने के लिए कि वह अपने को कहां तक सौदे में डालता है, मैंने उपदेश के रूप में कहा—'इस उम्र में कोई मिलेगी भी तो ऐसी ही मिलेगी सरदार जी, जो पहले कई घरों में घूम चुकी हो और जिसे दूसरा ठौर-ठिकाना न हो। ऐसी को घर में डाल लोगे?'

मैंने देखा जाट की मूंछों के बाल फिर अंगड़ाइयां लेने लगे हैं। उसने आगे बढ़कर मेरी बांह पकड़ ली और बोला—'आपके पास है, बाबूजी? जरूर आपके पास कोई है!'

मैंने नहीं सोचा था कि मेरे शब्दों का यह अर्थ भी निकाल सकता है। मैंने स्पष्ट करने के लिए कहा—'यह मतलब नहीं सरदार जी, कि मेरे पास कोई है। मैं तो सिर्फ बात के लिए बात कर रहा हूं।'

'नहीं बाबूजी, आपके पास जरूर कोई है।' जाट ने विनय और अनुरोध के साथ कहा। 'मेरी पगड़ी आपके पैरों पर समझो और मेरा काम करा दो। दो-चार सौ मैं आपके लिए सिर से वार दूंगा···।'

मैंने जाट को फिर सिर से पैर तक देखा। उसकी भौंहें सफेद हो रही थीं। आंखें छोटी होकर केवल दाग भर रह गई थीं। गालों का मांस लटक आया था। दांत आधे टूट चुके थे। जो दांत शेष थे, उनकी जड़ों में लहू रिसरिसा रहा था। बोलते-बोलते उसका थूक दाढ़ी के सफेद बालों में फैल गया था। और वह मुझसे विश्वास मांग रहा था कि मैं कह दूं कि है, एक औरत है जो उसके लिए चारा बन सकती है, जो अपना शरीर रांधकर उसे खिला सकती है। क्योंकि वह जमींदार है...।

'बोले, नहीं बाबूजी?' जाट व्याकुल उत्सुकता के साथ बोला।

'मैं किसी को नहीं जानता, सरदार जी।' मैंने धीरे से कहा।

मॉडल टाउन अब सामने ही था। पक्की सड़क पर आकर मेरी नजर पुष्पा पर पड़ी, जो बरामदे में खड़ी बापू की प्रतीक्षा कर रही थी।

मुझे फिर लाल फूल याद हो आए। मैंने जाट की ओर देखकर पूछा—'तुम अभी कुछ दिन तो हमारे पड़ोसी हो न, सरदार जी?'

'नहीं जी, हम कल अपने गांव जा रहे हैं।' जाट ने कहा—'यहां अब किसके भरोसे बैठे रहें? कहीं चलकर देखभाल करेंगे। और नहीं तो बदले में ही कोई लड़की देखेंगे।'

'बदले में?' मैंने हैरान होकर पूछा।

'हम लागों में यह रिवाज है, बाबूजी।' बराबर की उमर के वर हों, तो दो घर आपस में लड़कियां बदल लेते हैं। मैं जाकर अपने जैसा ही कोई घर देखूंगा।'

मैंने देखा, पुष्पा प्रतीक्षा कर रही है। बापू जो गाली देता है, वह गाली उसे नहीं लगती। पर जो गाली नहीं देता, वह गाली उसे लग रही है।

अर्द्ध विराम

कहानी : मोहन राकेश

जब हम तीनों साथ-साथ होते हैं, तो ठीक-से कोई बात नहीं होती। होती है, ऐसे ही छिटपुट। मदन कहता है—'इस साल कितनी बारिश हुई है!' मैं बारिश की ओट में होने वाली चोरियों की बात करता हूं। तारा बातचीत से बाहर न रहने के लिए सड़कों में पड़े गड्ढों का जिक्र कर देती है। फिर हम तीनों आगे बात कर सकने के लिए किसी नए विषय की खोज में लग जाते हैं। थोड़ी देर में तारा उठकर किचन में चली जाती है। मदन अपने बुझे पाइप को फिर से सुलगाने के लिए तीलियां बरबाद करने लगता है। मैं अपनी जेबें टटोलता हूं, जैसे कोई जरूरी कागज खोजना हो। बीच-बीच में मदन की आंखें मुझसे मिल जाती हैं। हर समय एक धुआं-सा घुला रहता है, उसकी आंखों में। फिर भी, वह उन्हें सहज रखने की कोशिश करता कहता है—'मैं सोचता हूं, संदीप को अब होस्टल से घर ले आएं। यह अकेली परेशान होती रहती है यहां। कोशिश करनी है कि दो-एक महीने में मेरी बदली यहीं हो जाए।'

'अच्छा ही है, वह घर पर रहे तो।' मैं कोशिश करता हूं, मेरा स्वर एक अजनबी का लगे...ज्यादा से ज्यादा परिवार के एक मित्र का। जेब से निकाले कागज मैं वापस जेब में भर लेता हूं, जैसे उनसे अंदाजा लगाया हो कि अभी कितनी देर और वहां बैठ सकता हूं। खिड़की से आती ठंडी हवा मुझे अपने कॉलरों से नीचे उतरती महसूस होती है। सड़क से गुजरती किसी गाड़ी की आवाज किवाड़ों को झनझना जाती है। मुझे हर बार लगता है कि अगली बार झनझनाहट होने पर एकाध कांच जरूर टूट जाएगा। मन होता है, उठकर चटखनी लगा दूं। मगर यह अपनी हद से आगे जाने की बात लगती है। मदन के बाहर रहने पर उस घर में जो सहूलियत महसूस होती है, वह उसके वहां रहने पर नहीं होती। वही खिड़कियां-परदे, जो उसकी गैरहाजिरी में अपने जान पड़ते हैं, उसकी मौजूदगी में बेगाने महसूस होते हैं।

तारा के किचन से लौट आने पर फिर थोड़ी सुविधा हो जाती है। वह जैसे हम दोनों से उदासीन बीच की एक कुरसी पर बैठकर सिर पीछे को डाल लेती है—'यह सितंबर है।' वह मन ही मन किसी चीज का हिसाब लगाती कहती है—'इसके बाद

अक्तूबर, नवंबर, दिसंबर···तीन महीने।'

'दिसंबर में क्या होगा?' मदन अपने बुझे पाइप से किसी तरह कश खींच लेने की कोशिश करता है।

'होगा कुछ नहीं। ऐसे ही सोच रही थी। सुमित्रा ने लिखा था, दिसंबर में वे लोग बाहर चले जाएंगे।'

'इसमें नई बात क्या है? बाहर तो वे लोग हर साल जाते हैं।'

'हां, जाते तो हर साल ही हैं। इस साल दिसंबर में जाएंगे।'

'तो तुम क्या दिसंबर से पहले कुछ दिनों के लिए जाना चाहती हो उनके पास?'

'नहीं। पिछले साल गई थी। इस साल नहीं जाऊंगी।'

उनके इस तरह बात करने से मुझे उतावली-सी महसूस होने लगती है···वहां से उठकर चल देने की। उनकी जिंदगी में बहुत कुछ ऐसा है, जिसमें मैं नहीं आता। बहुत से लोग हैं, जिन्हें वे पहले से जानते हैं···उनकी जिंदगी के उस दौर के साझीदार, जिसमें मैं नहीं था। तारा मेरी उतावली भांपकर मुस्करा देती है। उसके पीले चेहरे पर हलका-सा रंग उभर आता है—'तुम्हें फिर कोई काम याद आ रहा है अपना?' इस तरह पकड़ लिए जाने से मैं थोड़ा झेंप जाता हूं। क्षण-भर के लिए मेरी आंखें उससे मिली रहती हैं। तब मदन अपने को हम दोनों से बाहर महसूस करता है। उसके माथे पर एक शिकन पड़ने लगती है, जिसे वह अपनी व्यस्तता से ढांप लेता है—'मैं माचिस लेकर आता हूं उधर से,' कहकर वह कमरे से चला जाता है। थोड़ी देर में वापस आता है, तो तारा सिर पर बांह रखे कुछ सोच रही होती है। मैं मुंह में अधजली सिगरेट लिए इस तरह उसे आते देखता हूं, जैसे इस बीच उसके माचिस लेकर आने का इंतजार ही करता रहा होऊं। मदन आकर पहले मेरी सिगरेट सुलगवाता है, फिर अपने पाइप के लिए तीलियां घिसने लगता है।

'तुमसे पाइप सुलगता तो है नहीं ठीक से!' तारा हलकी खीज के साथ कहती है—'फिर भी, पता नहीं क्यों तुम हर वक्त तीलियां घिसते रहते हो! क्यों नहीं, इसे छोड़कर फिर से सिगरेट पीने लगते?'

मदन के कंधे ऐसे हिलते हैं, जैसे वह इस बात का कोई तीखा जवाब देने जा रहा हो। मगर उसका जवाब उसकी आंखों में ही बुझ जाता है। वह तीली को दोनों हाथों की ओट दे, एक लंबे कश के साथ पाइप सुलगा लेता है। फिर आंखों में पाइप के जल जाने का संतोष लिए कहता है—'सिगरेट क्या है, फुसफुसी चीज!' कश खींचने का मजा है पाइप में! इसे आदमी हड्डी की तरह दांतों में भी लिए रह सकता

है। सिगरेट मुंह में लिए हुए तो ऐसे लगता है जैसे···'

'जैसे?' तारा आंखों के अलावा स्वर से भी उसका उपहास उड़ाती है। मदन हम दोनों की तरफ देखता हुआ अब अपने को पहले से भी अकेला महसूस करता है—'मुझे पाइप पीना पसंद है।' वह अपनी दांतों तक आई झुंझलाहट को पाइप पर निकालता हुआ कहता है—'मेरे लिए इतना ही काफी है।'

तारा उसकी झुंझलाहट के उत्तर में बहुत दूर हो जाती है। मुझसे पूछती है—'अच्छा, तुम बताओ, इसके चेहरे के साथ पाइप मेल खाता है?'

मैं पल-भर का वकफा लेता हूं। ऐसे मदन की तरफ देखता हूं, जैसे सचमुच मुझे फैसला करना हो। अपने दिमाग को ऐसे शब्दों के लिए कुरेदता हूं, जिनसे दोनों का मन रखा जा सके—सवाल पाइप का नहीं, खास तरह के पाइप का है। मैं कहता हूं, अगर पाइप दूसरी तरह का हो···रोमन लिखाई की 'बी' जैसा···तो शायद···'

'मुझे उस तरह के पाइप से नफरत है!' अब मदन अपने को रोक नहीं पाता। मेरा चेहरा अंदर से सकपकाहट से सुर्ख हो जाता है, तारा के उमड़ते गुस्से से—'तुम्हें हर ऐसी चीज से नफरत है, जिसे कोई दूसरा अच्छी समझता हो!' वह कहती है—'तुम्हारे लिए अपनेपन का बस इतना ही तो मतलब है!'

मदन पाइप मुंह से निकालकर हाथ में ले लेता है। पल-भर निश्चय नहीं कर पाता कि उसे इसके जवाब में कोई सख्त बात कहनी चाहिए, या चुप रहकर बात को टाल जाना चाहिए। फिर वह दबे स्वर में 'अच्छा, छोड़ो' कहकर पाइप मुंह में डाल लेता है। तारा भी अपने गुस्से के लिए अपराधी महसूस करती हुई पल-भर आंखें मूंदे रहती है। फिर अपने को झटककर जबरदस्ती की मुस्कराहट के साथ कहती है—'हां, छोड़ो···अब कोई और बात करनी चाहिए।'

मुझे लगता है कि 'कोई और बात' शुरू करने की जिम्मेदारी अब मेरे ऊपर है। मैं दिमाग में बातचीत के विषयों की फाइल पलटता हूं। ऐसा कोई विषय नहीं मिलता, जिस पर हम तीनों आदमी, बिना किसी उलझन के आगे बढ़ें, बात कर सकें। आखिर वही एक विषय, जो बातचीत के और हर विषय को पीछे डाल देता है, मेरी जबान पर आ जाता है—'क्या खयाल है···क्यों न डिनर के लिए कहीं बाहर चला जाए?'

तारा मदन की तरफ देखती है। मदन हाथ और होंठ हिलाकर अपनी तटस्थता जाहिर करता है। उसे अच्छा खाने का शौक है, यह तारा और मैं, दोनों जानते हैं। तारा उठकर अंदर कपड़े बदलने चली जाती है। मदन अपने बुझे पाइप को फिर

से जलाने की कोशिश करने लगता है। मैं अपनी घड़ी उतारकर उसे चाबी देने लगता हूं।

जब मदन और मैं अकेले होते हैं, तो कम से कम बात न कर सकने की उलझन नहीं होती। वह और कुछ नहीं, तो अपने काम-काज के बारे में ही मुझे बताने लगता है। अपने पोर्टफोलियो से कुछ कागज निकालकर सामने रख लेता है और मुझे उन पर लिखे आंकड़ों की बारीकियां समझाने लगता है। मुझे वे बारीकियां समझ नहीं आतीं, पर मैं 'हूं-हां' करता हुआ, उसे पन्ने पलटते देखता रहता हूं। कुछ देर में जब वह खुद ही अपने आंकड़ों से थक जाता है, तो पोर्टफोलियो बंद कर लेता है। 'मैं चाहता हूं कि मेरी बदली किसी तरह हेड ऑफिस में हो जाए।' वह कहता है–'दो साल से इन्होंने मुझे बाहर पटक रखा है! अगर मैं वहां रहूं, तो इससे कहीं ज्यादा काम कर सकता हूं।'

मुझे लगता है, वह मुझे किसी चीज का विश्वास दिलाना चाहता है। अपना काम वह मेहनत से करता है, यह बताकर मुझसे सहानुभूति पाना चाहता है। पर मुझे उससे सहानुभूति नहीं होती। सिर्फ यह अपना फर्ज लगता है कि उसकी बातों में थोड़ी दिलचस्पी दिखाता हूं। मन में मैं उस वक्त उसे और अपने को कोसता रहता हूं। क्यों वह अपना दफ्तर मेरे सामने खोलकर बैठ जाता है? क्यों मैं उसके दफ्तर में से उसके साथ गुजरने के लिए अपने को मजबूर पाता हूं? क्यों वह मुझसे अतिरिक्त कोमलता के साथ बात करता है? क्यों मैं उस कोमलता का उत्तर उसी भाषा में देने की यंत्रणा सहता हूं? क्यों नहीं, हम साफ-साफ एक-दूसरे के दुश्मन हो जाते, और चुनौतियों की भाषा में बात करते? जब उसकी उंगलियां अपने कागजों पर घूम रही होती हैं, तो मैं उनके पोरों पर उगे रोयों को देखता रहता हूं। उनमें से कुछ ही रोयें, अब तक सफेद हुए हैं, वे सब के सब कब तक सफेद हो जाएंगे? उसकी और मेरी उम्र में आठ साल का फर्क है⋯इसका मतलब है, आठ साल का हैंडीकैप तो उसे है ही। पर क्या वह भी मेरी तरह अपनी उम्र के साल गिनता और इस हैंडीकैप की बात सोचता है?

मैं देखता हूं कि उसकी आंखें अपने कागजों में व्यस्त रहकर भी मेरी आंखों में कुछ पढ़ने-तलाशने की कोशिश करती रहती हैं। उसके साथ अकेले बैठने में मुझे सबसे ज्यादा असुविधा होती है, तो इसी से। सारा वक्त लगता रहता है कि वह मुझसे कुछ चीज चाहता है, जिसके लिए मुझे अंदर-बाहर से टटोलता रहता है। हेड ऑफिस में अपनी बदली करा लेने की बात वह इतनी बार करता है कि उसका भी संबंध मुझे अपने से ही जान पड़ता है। अपनी अनुपस्थिति में मेरा अपने यहां आना उसे

गवारा नहीं, इसीलिए वह चाहता है कि हर समय यहां मौजूद रह सके। यह बात कहते हुए कभी-कभी वह बहुत उत्तेजित भी हो उठता है–'आज सुबह सेक्रेटरी ने मुझे बुलाया था। मैंने साफ कह दिया उससे कि आपको मेरी रिपोर्ट तैयार करा के अगर तहखाने में ही डालनी है, तो क्यों खामखाह मुझे घर से इतनी दूर डाल रखा है? मेरी सारी मेहनत का, अंत में यही नतीजा निकलना है, तो क्यों न मैं त्यागपत्र देकर अभी से इस झंझट से छुटकारा पा लूं?'

उसकी त्यागपत्र देने की बात भी मुझे घर में मौजूद रहने की इच्छा का ही एक विकृत रूप लगती है। वह जो काम करता है, उसकी सार्थकता के संबंध में अपने अधिकारियों को विश्वास न दिला पाने का तनाव भी हर समय उसके अंदर बना रहता है–'या तो मेरी बात इनकी समझ में नहीं आती, या ये जान-बूझकर समझना नहीं चाहते। इनका खयाल है कि मैं करता-धरता कुछ नहीं, ऐसे ही आठ-दस कागज हर बार काले करके ले आता हूं!'

हर बार उसके मुंह से वही-वही बातें सुनते हुए, कभी-कभी मुझे भी ऐसा ही लगता है। पर यह बात मेरे भाव से जाहिर न हो, इसलिए मैं कहता हूं–'तो तुम क्यों नहीं कोशिश करते, अपनी बदली यहां करा लेने की?' मैं जानता हूं कि यह बात खामखाह की है। उसकी बदली अभी कम से कम दो साल और यहां नहीं हो सकती। ज्यादा से ज्यादा उसे नागपुर से आसनसोल भेजा जा सकता है। पर वह मेरी बात को गंभीरतापूर्वक लेकर थोड़ी देर के लिए उत्साहित हो उठता है। कहता है–'कोशिश तो मैं कर ही रहा हूं, मगर जो काम मैंने वहां शुरू कर रखा है, उसे मेरे सिवा कोई पूरा नहीं कर सकता। इन्हें इसके लिए दूसरा आदमी मिल जाए, तो ये कल ले आएं मुझे यहां। लेकिन दूसरा आदमी कोई है ही नहीं। और वह अपने पाइप को सुलगाने के लिए फिर तीलियां जला-जलाकर फेंकना शुरू कर देता है, बीच-बीच में मुझे देखता जाता है⋯कि मैं उसकी बात को किस तरह ले रहा हूं! उसकी वे टटोलती हुई निगाहें कभी मुझे देखती हैं, कभी उधर कमरे की तरफ और कभी धीरे-से सुलगकर फिर बुझ जाने वाले पाइप की तरफ।

मुझे लगता है कि तारा तैयार होकर आ जाए, तो डिनर के लिए जल्दी निकल जाना बेहतर होगा। शायद तब कोई और बात शुरू की जा सके।

नन्ही

कहानी : मोहन राकेश

मां—वह उठ बैठी, मां-मां, बिस्तर से गिर चली वह। जब ले लिया बुआ ने गोद में। पता नहीं था उसको कि मां ने आधी रात के समय उसी के लिए बाहें बढ़ा दी थीं, उसी का नाम लेना चाहा था, उसी को चूमना चाहा था, जब कंठ और काम दोनों ने साथ न दिया—मां उनसे अलग हो गई। मां उससे भी अलग हो गई, अपनी नन्ही से।

नन्ही बेखबर बिस्तर पर सोई, एक बार कांप उठी थी। बेखबर। फिर सो गई थी वह—यह सब हुआ घनी रात में, जहां हर रोज नन्ही सोया करती थी, मां के वक्ष के साथ, पर जहां वह आज भी, कल भी, परसों भी, सोई थी अकेली, शायद ऐसा ही अभ्यास डालने के लिए। बुआ उसे सुला देती—जगा देतीं रवि की किरणें। वह उठकर कहती—'मां-मां।' पर मां चली गई थी। चली गई थी मधु-समीरण छोड़कर, नवकलिका को लू के भरोसे···

दिन लगे नन्ही को यह जानते, समझते, मस्तिष्क में बिठाते कि मां चली गई, जहां कहीं भी, जिस किसी भी काम के लिए और जब कभी भी लौटने के लिए। नन्ही को लगता सारा घर मिट्टी का, रोटी आटे की, पानी-पानी-सा, फीका-फीका। सब कुछ ऐसा पहले नहीं था। पहले इन सब में मां थी। दुलार-प्यार भी मिलता ऐसा, जैसा मां का नहीं होता। ऐसा-वैसा लगता···लगता ही बस! यह भी न जान पाती, क्या लगता है, क्यों लगता है, कैसे लगता है। खिलौने लेती सामने, फिर पाती धुंधली-सी मां—समझ न सकती क्या है, क्यों है, कैसे है?

औरों के लिए मां मर गई थी—धीरे-धीरे नन्ही के लिए भी मर गई वह! जैसे वह कभी थी ही नहीं, यदि थी भी तो कुछ करती ही नहीं थी जैसे। सब कुछ ऐसा ही था जैसा अब था। बुआ थी, बाबू थे, नौकर थे। मां यदि कभी थी तो बस रोटी खिलाती थी—और बस नन्ही खेलने लगती खिलौने से। कोई घर में कुछ कहता तो वह अंदर भागकर चलती कुछ कहने। बुआ को देखती, ठिठकती क्षण भर, सोचती—हां, बुआ के पास ही तो आई थी वह। वह दौड़कर पहुंच जाती बुआ की

गोद में। बुआ उसे चूम लेती। नन्ही को लगता था यही—अच्छा-सा, भला-सा। वह क्या था धुंधला-सा, मद्धम-सा—कुछ भी नहीं।

और मां सचमुच मर गई। नन्ही की नन्ही-सी स्मृति में रह गए खिलौने, वही उसका स्वत्व—प्यार-दुलार का आश्रय, बुआ। खेलती वह, खाती वह, गाती भी कभी—हंसती खूब। टूट जाता कोई खिलौना अपने ही हाथ से गिरकर तो रो भी देती। बुआ मना लेती—पुचकारकर। नए के चाव में पुराने को खो देती वह। मिल भी जाता उसे नया। पुराने से सुंदर लगता। दिन, दो दिन बीतते पुराना खिलौना याद भी न रहता। जैसे था ही नहीं कभी। बनते और बिगड़ते खेल—जैसे होता ही ऐसा हो। और सब में उलझी रहती वह। एक-सी गति से बीतता समय।

एक दिन लगा, कुछ असाधारण-सा नन्ही को। बुआ ने उसे बुलाया, चूमा आंखों में आंसू भरकर और फिर जाने दिया। फिर एक बार उसे उठा लिया और थोड़ा-सा हंस दिया आंखों में आंसू लेकर। जैसे हंसना ही हो आंसू, आंसू हंसना। समझ न सकी वह खुद भी। बुआ के गले में बाहें डाल भर दीं।

रात को थपथपाकर सुलाते हुए उसे बुआ ने बताया। निंदियाई हुई-सी नन्ही ने सुना—उसके बाबू उसे ला देंगे नई मां। चौंक-सी पड़ी एक बार···सोचा मां, फिर एक अस्पष्ट-सी रेखा, उसने सोचना चाहा, कुछ समझ में आया नहीं। एक छाया-सी, वात्सल्य लिए। नन्ही नहीं समझी। अपनी बुआ से चिपट गई थी वह। फिर सोचा—सोचा मां! एक अव्यक्त-सा अभाव घेरने लगा उसे। बुआ के और निकट हो गई वह। वह सोचना न भी चाहती, पर सोचा तो जाता ही है। अपनी ही तसल्ली के लिए उसने सोचा, जैसे कुछ याद हो आया। चमक-सी गई। नए माल जैद्दी नई मां बू? बुआ ने प्रश्न का उत्तर न देकर उसे फिर थपथपा दिया। नन्ही समझी यही सब कुछ। जैसे उसने जान ही लिया हो, नई मां क्या? नई मां क्यों? नई मां कैसी?

दूसरे दिन उठी भी वह बुआ के साथ ही। नन्ही भी नहा-धो ली। अपने सारे खिलौने कतार में रखते हुए उसे खयाल आया, 'नई मां'। फिर कुछ सोचने-सी लगी। कुछ बिखरे-से विचार बने तो बिखरे ही रहे। फिर अस्पष्ट स्पष्ट-सी मूर्ति, उसे गोद में लिए उसे खिलाती, हंसाती, चूमती, जगाती, सुलाती, कपड़े पहनाती, प्यार देती। उसे धुंधली-सी मां याद हो आई। मां की आकृति नहीं, मां भर। अपने खिलौने को अस्त-व्यस्त रखते हुए उसने न जाने क्या-क्या देखा। जब रोटी के लिए बुआ ने बुलाया तो नन्ही को लगा जैसे मां ने···अंदर झांकी, बुआ को देखा। याद आया कोई चीज जो वहां होनी चाहिए, है नहीं वहां। क्या नहीं है? समझ में नहीं आया। रोटी

खाई जैसे खा ही ली। मां उसे याद आ रही थी। वह सोचती, बुआ ही मां थी या—या वह तस्वीर-सी। पर उसने अंदर देखा, बुआ में मां।

जब बुआ ने नन्ही के बाल सहेज दिए तो उसे सचमुच की मां याद आ गई, वैसे ही जैसी वह थी। अनायास ही उसने पूछा—'वो मां आएगी बू?'

बुआ हैरान-सी उसे देखने लगी और देखती रही, क्षण-भर—'कौन मां?'

उसने पूछा। नन्ही क्या बताती—'वो लौटी वाली मां बू।' उसने कुछ सोचकर कहा।

बुआ ने उसे चूम लिया—'क्या सोचती है बच्ची! नई मां आएगी तेरी।' बुआ ने कहा, जैसे अपने ही दिल पर धक्का-सा लगा हो। नन्ही चुप रह गई। सोचा उसने नया मोर पुराने मोर जैसा होता है। रंग उसका चमकता—इतना ही अंतर। मोर सब एक ही तो है। मां—मां सब एक ही तो। एक को ही तो कहते हैं मां! उसने सोचा, जो मां है मां तो हो भी वही वैसी—नए कपड़े पहने हुए। शायद खुशी-सी झलकने लगी चेहरे पर—जैसे अब पुराना सपना फिर दिखाई देता। सुंदर-सा, अद्भुत-सा।

नन्ही के दिन कटते जैसे कटते ही न। रोज सोचती, रोज पूछती—आ जाए मां—मां जैसी मां।

और एक दिन खूब चहल-पहल, खुशियां, बाजे—और उनके साथ आ ही गई नई मां। नए ढंग के कपड़े पहने देखा नन्ही ने अपने बाबू को। सोचा बाबू भी नए हो गए शायद—और ऐसी ही तो नई मां—मां, नए कपड़ों में। वह उतावली हो उठी—'मां के पात दाऊंगी।'

घर में आ गई थी नई मां। अपने विचारों और सपनों में खोई-सी युवती। देखा था जिसने बचपन, यौवन से तो परिचय ही उसका नया था। कुछ दिन पहले वह खेला करती थी। पर आज? वह सोचती ही जा रही थी। भय, आशंका, दुःख, शोक, हर्ष-उल्लास क्या था हृदय में? सब ही, एक भी नहीं। भावना व्यक्त भी अपने आप को छुपाए रहती है, कभी-कभी। भावना के क्षण कितने पृथक्-पृथक् होते हुए भी मजे-सधे-से रहते हैं। हम उनका विभाजन नहीं कर पाते।

और वह सोचती जाती। जानना चाहती, क्या परिवर्तन आ गया उसमें। बाहर से देखा—वस्त्र, आभूषण, जैसे वह वह नहीं थी। कोई खिलौना थी, जिसे खूब सजा भर दिया गया था, खरीदार के हवाले करने को। अंदर भी देखा उसने, वहां क्या? ऐसा ही लगता था जैसे पहले, पर ऐसा तो नहीं लगता था। चाह-उमंग—या पहले इतने कहां थे। फिर भी, दिल अभी चाहता था, उसकी मां उसे बुलाए—वह झुंझलाकर उत्तर दे—पढ़ रही हूं मैं, अभी नहीं खाना खाना मुझे। और यहां···

'मां!' उसने शायद सुना भी नहीं। नहा-धोकर कपड़े पहनकर हाथ में नया मोर लिए नन्ही आ गई थी नई मां के पास। 'मां!' और वह अपने सपनों से चौंक उठी, जाग पड़ी जैसे। देखा, वह घर भी नहीं, मां भी नहीं—एक नन्हीं-सी बच्ची उसी को कहती मां। कल तक 'बेटी' सुनने का अभ्यास था उसे। इतना परिचित था यह शब्द, इतना कि उसे यह इतना बदला हुआ संबोधन अच्छा नहीं लगा। कितना अंतर था, कल तक बेटी और आज मां। धीरे से नन्ही को पीछे हटा दिया उसने।

नन्हीं कुछ सहमी, कुछ झिझकी पर मां से डरना क्या? वह फिर उसके हाथ को पकड़ते हुए बोली—'मां, तुम तो···' नई मां ने उसकी तरफ देखा नहीं तो लगा यह मां नहीं है। यह मां-सी तो लगती हीं न थी। वह चुप रह गई—मां ऐसी तो नहीं होती।

युवती का दिल घबरा-सा गया—दिल कुछ भर-भर-सा आ रहा था। अपना हाथ खींच लिया उसने झटककर।

नन्ही कोशिश कर रही थी यह समझने की कि यही मां है। तभी उसका हाथ झटक दिया गया। वह रुआंसी-सी दो कदम पीछे हटी और न जाने कैसे गिर गई। नया मोर हाथ से गिरकर टूट गया। सुबक-सुबककर रोने लगी नन्ही।

भोजन-गृह से दौड़ पड़ी बुआ। नन्ही को उठा लिया। पूछा—'क्या हुआ?' युवती ने तिरछी नजर से देखा। नन्ही ने बुआ से चिपटकर जोर से रोते हुए इतना भर कहा—'मां,' और-और भी जोर से रोने लगी।

बुआ उसे ले आई। नरम से बिस्तर पर उसे लिटाते हुए, उसकी अपनी आंखों में आंसू छलछला आए। सिर पर हाथ फेरते हुए बुआ ने कहा—'रो मत, तुझे नया मोर ला देंगे।' पर नन्ही ने सुना ही नहीं। वह सुबकती रही। बुआ रोटी बनाने चली गई। घर में नई दुलहिन आई थी। किसी तरह की कमी न रहनी चाहिए थी। दो-एक घंटे में जब खाली हुई तो नन्ही को खाने के लिए बुलाने चली। बुआ पास गई। नन्ही सो रही थी। माथे पर हाथ रखा, कांप गई बुआ। आग की तरह जल रहा था माथा। नन्ही को ज्वर हो आया था।

नई दुलहिन के लिए खाना जा रहा था। बुआ ने अपने हाथ से सजाकर रखा था। महरी ने बुआ को बुलाया। बुआ चुपचाप वहीं बैठी रही। दुलहिन का खाना भेज दिया गया। बुआ उठी। बाहर निकली। महरी ने आवाज दी—'बहू ऐसे क्या कुछ खाएगी? तुम ही न जाकर खिलाओ बीबी!···'

बुआ ने जैसे सुना ही नहीं। नौकर को आवाज दी उसने—'रन्नू!'

'रन्नू जा वैद्य जी को बुला ला···नन्ही को बुखार हो आया है।'

'बहू पहले ही दिन भूखी रहेगी बीबी?' महरी ने कहा।

बुआ ने कुछ नहीं सोचा—'तुम्हीं जाकर खिला दो न। मुझे कौर तोड़कर तो नहीं डालने मुंह में उसके।' मुंह झुंझलाकर कहा बुआ ने, और जा बैठी नन्ही के पास। नन्ही का बदन आग की तरह जल रहा था।

महरी के हजार कहने पर भी दुलहिन ने खाना नहीं खाया। वह सोचती थी कल तक की बात—जब तक वह खाने-पीने में स्वतंत्र थी। मां कुछ भी खिलाती, कितना अच्छा लगता था वह। आज कितनी ही चीजें थीं। आग्रह कर रही थी एक महरी—कितनी नीरसता। खाना खाने के ही लिए नहीं खाया जाता। जब महरी उठकर बाहर गई तो दुलहिन ने रूमाल से आंखें पोंछ लीं। धीरे से अपना सिर उसने टिका दिया और न जाने कितने-कितने विचार।

वैद्य जी आए—नन्ही का बुखार कम नहीं हुआ। डॉक्टर बुलाए गए। डॉक्टर ने एक हलका-सा इंजेक्शन दिया। एक नार नन्ही ने आंखें खोलीं। बुआ ने उमड़ते प्यार से बाल सहेजते हुए धीरे-से कहा—'क्यों मेरी मुन्नी, तेरे लिए देख कितने नए खिलौने मंगवाए हैं।' बुआ को एक बार देख भर लिया नन्ही ने। आई थोड़ी-सी स्मिति-रेखा, पर फिर घबरा उठी। फिर क्षीण-सी आवाज में वह चिल्लाई—'नए नई।' नन्ही फिर बेहोश हो गई।

दो-तीन घंटे में उसने फिर आंख खोली। डॉक्टर इंजेक्शन तैयार कर रहे थे। नन्ही ने बुआ को ताका, कहा—'मां।' बुआ की आंखों में आंसू छलछला आए।

डॉक्टर ने धीरे से बुआ से कहा—'यह बिस्तर बदल दीजिए, नए कपड़े मंगवाकर बिछा दीजिए।'

दो-एक क्षण की निस्तब्धता के बाद नन्ही फिर चिल्ला उठी—'नए नई।' और एक बार फिर उसने आंख मूंद ली।

महरी दौड़ती हुई आई, हांफती-सी। बुआ से कहा उसने—'जल्दी चलो बीबी, जल्दी। बहू को बुखार हो आया है, शरीर तप रहा है।'

डॉक्टर ने नन्ही की बांह थाम ली तो नब्ज नहीं मिल रही थी।

'सुहागिनें' कहानी के बारे में राकेश का एक पत्र

5, इंडस कोर्ट, 'ए' रोड, चर्चगेट, बंबई-1
दिनांक : 10.1.63

प्रिय अनीता,

पत्र मिला। पहले तुम्हारी शुभकामनाएं भी मिली थीं, परंतु जिस मनःस्थिति में मैं उन दिनों था, उसमें यह समझ ही नहीं पाता था कि किसे क्या लिखूं। तुम लोगों का जिस लड़की से परिचय था, उसकी वजह से मुझे घर से भाग आना पड़ा है, यह बात शायद हर एक को विश्वसनीय न लगती। फिर आते ही मुकदमेबाजी के दलदल में फंस गया, सो दफ्तरी चिट्ठियों के सिवा और कुछ नहीं लिखा गया। कुछ ऐसा अनुभव भी उन दिनों हुआ था कि ऐसी परिस्थिति में लोग 'अपराधी' पुरुष को ही मानते हैं, सो उस संबंध में कुछ कहना या लिखना मुझे गलत लगता था···

'सुहागिनें' की मनोरमा एक अकेली नारी नहीं और न ही उसकी ट्रेजेडी केवल व्यक्तिगत ट्रेजेडी है। यह विडंबना क्या सारे मध्यवर्गीय शिक्षित समाज की नारी की नहीं है? रूप अलग-अलग हो सकते हैं, मगर ट्रेजेडी का धरातल एक ही है।

बंबई से कुछ दिनों के लिए दिल्ली जाऊंगा। उस प्रोग्राम के बारे में मैंने चंद्रा जी के पत्र में लिखा है।

फिलहाल इतना ही। आगे से पत्रोत्तर के मामले में तुम्हें शिकायत नहीं होगी।

राकेश

'एक और जिंदगी' कहानी के बारे में राकेश का एक पत्र

6, मोटा महल, बामनजी पेटीट रोड, बंबई-26
दिनांक : 4.12.62

चंद्रा जी,

उलाहने-भरा पत्र मिला। आपकी नाराजगी बेजा नहीं है। मगर मेरे पत्र न लिख पाने के कई कारण थे।

पहली बात तो यह कि मैं 'सारिका' के संपादक पद से त्यागपत्र दे चुका हूं, बहुत दिनों तक त्यागपत्र स्वीकार नहीं किया गया, इसलिए सब मामला डांवाडोल रहा। पत्र लिखना, इस वजह से भी टलता रहा कि समझ में नहीं आता था कि आपको क्या उत्तर दूं··मुझे स्वयं इस बात का पता नहीं कि किस महीने तक के अंक मुझे निकालने होंगे। खैर··फरवरी अंक तो इस समय प्रेस में है। अगर मार्च, अप्रैल के अंक मेरे हाथों निकले, तो आपकी एक रचना छापकर ही जाऊंगा। पुरस्कार प्रतियोगिता के संबंध में भी अभी निश्चित नहीं कि उसका कार्य मैं देखूंगा या नया संपादक। अभी नई नियुक्ति हुई नहीं।

पत्र न लिखने का उससे भी बड़ा कारण दूसरा था। जिस 'स्वीट' महिला को आपने मेरी पत्नी के रूप में देखा था, उसी की वजह से मुझे दिल्ली का घर छोड़कर, बिना कपड़े-लत्ते के बंबई आना पड़ा था। उस केस का अंशमात्र परिचय आपको मेरी कहानी 'एक और जिंदगी' में मिल सकता है। आजकल वह मामला अदालत में है।

आप लोगों ने मेरे घरेलू जीवन को एक और ही रूप में देखा था। इसलिए समझ में नहीं आता था कि वह पूरा इतिहास आपको कैसे लिखूं।

पत्र मुझे अभी पंद्रह रोज तक ऊपर के पते से मिल सकता है। उसके बाद नया पता होगा।

अनीता ने बी०ए० कर लिया होगा। उसे मेरा स्नेह दें। छह-सात सप्ताह में शायद दिल्ली जाऊं। तब शायद आप लोगों से लश्कर में भेंट हो।

पत्र दें।

सस्नेह
मोहन राकेश

किसी एक का खत राकेश के नाम

तुम्हें जो चाहिए था, वह तुम्हें मिल गया, पर मैं जो चाहती थी, वह मुझे नहीं मिला।

उजली धूप में भीगी घाटियों में घूमना चाहती थी, मैं सागौन के स्वरों से पुलकायमान होना चाहती थी, हिमालय के उच्च शिखर के गुहास्थित मंदिर की गहन घंटा-ध्वनि को अंतर में भर लेना चाहती थी, वह नहीं हो सका। उसका सुयोग नहीं मिला।

कुछ हलकी-सी निराशा, कुछ उन्मुखता है। क्या दुनिया में कहीं भी शारीरिकता विरहित कुछ नहीं? फिर अंतर में क्यों ऐसी अनुभूति होती है? क्या अपनी कल्पना के दिव्य भाव की प्राप्ति के लिए पत्थर के देवता के आगे ही सिर रगड़ना होगा? उस पत्थर के देवता में पुलक कहां होगी? वह पुलक--भक्त के अंतर की क्या अपनी ही होती है? इन दिनों गीता पढ़ रही हूं। कभी शांति, कभी उद्वेग और कभी करुणा उमड़ती है, पर यह जलकण बहुत शीतल हैं। इनमें कोई क्षोभ, कोई उपालंभ, कोई पश्चात्ताप नहीं।

एक बात तुम्हें बताना चाहती थी। तुम्हारी मेरी रेखा लांघने में मुझे कुछ नया नहीं मिला और मैंने सिवा एक प्रिय मानव की निर्बलता को करुणा के अवलंब के दिया भी कुछ नहीं।

तुम्हें कुछ मिला, या तुमने पा लिया, या ले लिया, यह तुम्हीं जानो।

इन पंक्तियों को पढ़कर लौटा देना। आज तुम्हारा जन्मदिन है। मां को मेरी ओर से मुबारक देना।

मैं भी प्रोफेशनल राइटर बनना चाहती हूं। क्या बन सकती हूं?

राकेश का पत्र—उसी एक के नाम

तुम्हारा पत्र मुझे मिल गया है। मैंने जो पहले के पत्रों में लिखा है कि मैं अपने अंतर में कुछ भरा-भरा-सा महसूस करता हूं, अब यदि तुम सोचो कि यह भरना स्थूल उपलब्धि को लेकर है, तो मेरे साथ न्याय नहीं होगा। स्थूल की उपलब्धि कहां संभव नहीं है? परंतु किसी स्थूल की आत्मा में वह वायव्य कुछ नहीं होता, जहां आत्मीयता रहती है। मैंने जो अभाव भरा, वह था किसी की आत्मीयता में डूब जाने का''मेरी दृष्टि में शारीरिक पुलक में आत्मीयता की दीप्ति हो सकती है। उस दीप्ति के अभाव में शारीरिक पुलक पाशविकता है। मैंने पाशविकता का जागरण कई बार देखा है। परंतु इतना दिग्भ्रांत नहीं हूं कि उसमें और इसमें अंतर न कर सकूं। फिर भी, मैं तब ही से जानता हूं कि तुम्हें ऐसा लगा है, मुझे खेद है, तुम्हें दोष क्योंकर दूं? तुमने क्या दिया, क्या नहीं दिया, इसका लेखा-जोखा मैं नहीं कर सकता, परंतु कुछ क्षणों की दुर्बलता को मेरी उपलब्धि मानकर तुमने उचित नहीं किया। मैंने तुम्हें पुनरावृत्ति के अतिरिक्त कुछ न दिया हो, पर जो तुमसे प्राप्ति हुई, वह आत्मीय तत्त्व मेरे लिए अनुपलब्ध था। और विश्वास करना चाहता हूं कि अछूता भी था। करुणा का अवलंब भी अंततः अवलंब तो है।

एक बात कहूंगा। अप्राप्त की प्राप्ति कल्पना में नहीं होती—भावना में होती है, क्रिया में होती है। क्या तुममें अपनी कामना को—अमूर्त की चाह को—भावना और क्रिया देने की शक्ति है? तुम जो हो, वह भी बनी रहना चाहो और अतिरिक्त भी लेना चाहो, यह क्योंकर होगा? यह नहीं कि 'उजली धूप में भीगी घाटियों' तक जाने के रास्ते नहीं हैं। लेकिन रास्तों के अतिरिक्त चरण भी तो चाहिए। और विश्वास अपने पर, मार्ग पर, संबल पर। यूं अपनी असमर्थता को दूसरों की देन मान लेने से असंतोष कुछ हलका भले हो जाए''परंतु सिद्धि क्या हो पाएगी?

तुमने अपनी पंक्तियां लौटा देने को कहा है। तुम्हारे विश्वास की यह परिणति है, तो उन्हें रोककर रखूंगा भी नहीं। लेकिन एक बार फिर मांगो, लौटा दूंगा।

किसी दूसरे को उपादान के रूप में कभी मत ग्रहण करो। पुरुष हो, भावना हो, या पत्थर। अपने से बाहर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारो। फिर उसे छुओ।

तब इस तरह अनुपलब्धि का खेद न होगा क्योंकि देना भी एक उपलब्धि है। उसमें भी सार्थकता है।

मैंने गीता नहीं पढ़ी। इतना फिर भी कह सकता हूं कि जिधर प्रवृत्ति न हो, उधर कभी मत चलो। और जिधर प्रवृत्ति हो, उधर चले हुए हर चरण को अपनी सार्थकता मानो, जीवन में 'तटस्थता' कुछ नहीं है।

मैं तुम्हें तुम्हारे उपादान के रूप में कभी नहीं मिलूंगा। यदि मिलूंगा, और जब भी मिलूंगा, एक इनसान के रूप में मिलूंगा।

तुम्हारे पत्र ने मुझे कहीं से छीला है, यह मैं निःसंकोच स्वीकार करता हूं।

प्यार फिर भी लो। परंतु किसी रेखा के भीतर या बाहर नहीं क्योंकि भावना में रेखा नहीं होती।

दो कविताएं : मोहन राकेश

उन्नीसवां सिगार

दिन का
उन्नीसवां सिगार—
पी लिया।
अपने आत्मदाह में
फिर एक बार
जी लिया।

चाबुक

'क्यों नहीं?'
यह बात
उस एक से ही नहीं,
हर एक से
एक-एक बार कही;
उत्तर के मौन की
विरक्त भाषा—एक-सी
अपनी अधूरी कामना
पीठ पर हर बार
उसी तरह···उसी तरह···
उसी तरह
सही।

सुनहरा मुर्गा, काला बंदर और लाल अमरूद का पेड़

बालकथा : मोहन राकेश

सुनहरे मुर्गे पर बहुत से कसाइयों की नजर थी।

काले बंदर को बहुत से चिड़ियाघर पकड़ने की कोशिश में थे।

और लाल अमरूद के पेड़ पर फल वाले और स्कूल के बच्चे ललचाए थे।

यह तीनों दोस्त थे और एक-दूसरे की रक्षा करते थे।

जब कोई कसाई आता तो पेड़ दो-तीन पके अमरूद टपका देता और कसाई मुर्गे को भूलकर अमरूद चखने में लग जाता। तभी बंदर मुर्गे को अपनी पीठ पर बिठाकर पेड़ की ऊंची टहनी पर चढ़ जाता।

जब चिड़ियाघर वाले आते तो पेड़ बंदर को अपनी घनी पत्तियों और शाखों में छुपा लेता और मुर्गा अपने पंख फड़फड़ाकर उनकी आंखों में धूल भर देता।

जब फल वाले या स्कूल के बच्चे आते तो बंदर उन्हें डराकर भगा देता।

उनके दिन मजे में कट रहे थे कि एक दिन जोर की वर्षा हुई और ओले गिरने लगे। उन तीनों में से कोई भी किसी की रक्षा न कर सका। मन ही मन वे तीनों अपने भीगने और नुकसान उठाने का दोष एक-दूसरे को देने लगे। प्रत्येक को लग रहा था कि वही अकेला दुखी है, शेष दोनों जान-बूझकर उसकी मदद नहीं कर रहे, सिर्फ अपने बचाव में लगे हैं। तीनों अपने साथी के गलत चुनाव पर दुखी हो रहे थे। उनमें एक-दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा हो गया था।

कुछ देर बाद ओले थम गए। बारिश रुक गई। दूसरे दिन तक तीनों ही सूखकर ठीक हो गए।

उसी दिन कसाई आया। पेड़ और बंदर ने मुर्गे की मदद नहीं की, कसाई उसे पकड़ ले गया।

दूसरे दिन चिड़ियाघर वाले आए और बंदर को पकड़ ले गए। पेड़ ने उसकी कोई सहायता नहीं की।

तीसरे दिन बहुत से लोगों ने पेड़ को घेर लिया। अकेला पेड़ अपनी रक्षा नहीं कर सका। पहले उसके फल तोड़े गए, फिर उसे जड़ से काट लिया गया।

छतरियां

एक पार्श्व नाटक : मोहन राकेश

भारी मशीन को धकेलती सी सम्मिलित आवाज :

आज से कल। आज से कल। आज से कल।

लगभग अंधेरे रंगमंच पर कुछ लोग आवाज के एक-एक झटके से पेच की तरह घूमते नजर आते हैं।

सम्मिलित आवाज की पृष्ठभूमि में अकेले पुरुष-कंठ की आवाज :

और इस रूप में युग का संकट (प्रतिध्वनियां : संकट संकट संकट) हमारे सामने है।

घूमते लोग फिरकी की रफ्तार पकड़ एक-एक करके मंच से बाहर निकल जाते हैं।

वही आवाज डंका पीटने की तरह :

संकट का अर्थ है मूल्यों को लेकर उठते प्रश्न (प्रतिध्वनियां : प्रश्न प्रश्न प्रश्न।) प्रश्नों का अर्थ है, विचारों की महामारी। (प्रतिध्वनियां : महामारी महामारी महामारी।) महामारी का अर्थ है, मनुष्यता से हटता मनुष्य-जीवन। (प्रतिध्वनियां : मनुष्य-जीवन मनुष्य-जीवन मनुष्य-जीवन।) और मनुष्य-जीवन का अर्थ है…

एक आदमी को ठोकर मारकर रंगमंच पर धकेल दिया जाता है। आदमी किसी तरह संभलकर खड़ा होता है और घुटनों को हाथों का सहारा दिए टटोलती नजर से इधर-उधर देखता है।

तेजी से शब्द उगलती दूसरी आवाज :

संविधान सभाएं, सूदखोरी, खादी-ग्रामोद्योग, अंतरिक्ष-यान, चावी के बंदर, चांद की चट्टानें, गेहूं, रोजी, मिरगी और…

पहली आवाज काफी ठहराव के साथ :

प्रजातंत्रीय चुनाव।

एक कोने में रंग-बिरंगी छतरियां (कुकुरमुत्ते) आलोकित हो उठती हैं। आकार एक से तीन फुट। आदमी जाकर उनके आसपास घूमता है। फिर वह सबसे बड़ी

छतरी को एक बार अभिलाषा के साथ छू लेता है।

उसके छूने के साथ ही गोली दागने की आवाज होती है।

आदमी पल-भर हाथ परे रखता है। फिर छतरी को तोड़ लेने का प्रयत्न करता है।

कई गोलियां एक-साथ दागी जाती हैं।

आदमी कुछ क्षण हाथ हटाए रहता है। फिर दो-एक बार उसी तरह कोशिश करके देखता है।

गोलियों की आवाज उसकी हर कोशिश के साथ मिलकर सुनाई देती है।

आदमी कुछ दूसरी छतरियों को छूकर देखता है।

कोई आवाज सुनाई नहीं देती।

कुछ आश्वस्त होकर वह चोरी से फिर एक बार सबसे बड़ी छतरी को छू लेता है।

गोलियां फिर दागी जाती हैं।

वह हताश होकर जैसे-तैसे उस छतरी को तोड़ लेना चाहता है।

गोलियों की लगातार आवाज उसके प्रयत्न को पीछे छोड़ जाती है।

आदमी आवाज से स्तब्ध होकर रुका रहता है।

गोलियों की आवाज रुकने पर कुछ क्षणों का खामोश अंतराल।

आहिस्ता-आहिस्ता आदमी के हाथ-पैरों में क्रिया लौटने लगती है। धीमी लयात्मक गति, वह फिर एक बार सबसे बड़ी छतरी को पकड़ लेता है।

गाली फुसफुसाने की आवाज :

हरामी पिल्ला।

आदमी के हाथ छतरी से इस तरह बंध जाते हैं कि उसे तोड़ने के सिवा उसके पास कोई चारा नहीं रहता।

उसके हाथों की लय में गालियां फुसफुसाने की आवाज :

हरामी पिल्ला। हरामी पिल्ला।

उल्लू का पट्ठा। उल्लू का पट्ठा।

सूअर का बच्चा। सूअर का बच्चा।

छतरी को भींचकर कांपते हुए आदमी के हाथ रुक जाते हैं।

कोई आवाज सुनाई नहीं देती।

अब आदमी छतरी को तोड़ लेने के लिए प्रचंड भाव से प्रयत्न करने लगता है।

स्पष्ट स्वरों में गालियों की बौछार सुनाई देने लगती है :

तेरे पायजामे में गज भर की छिपकली।

तेरी रीढ़ पर सरकंडे की खेती।

तेरी दाढ़ों में गधे का अजारबंद।

गालियों की लय से बचने की चेष्टा में आदमी के हाथों का तालमेल समाप्त हो जाता है। उसके प्रयत्न का हताश भाव पहले से कहीं बढ़ जाता है।

चारों तरफ से उस पर लानत बरसाई जाती है :

'अबे जाकर देख, तेरे घर की घुड़साल में कौन लकड़बग्घा घास चर रहा है।'

'तेरी बीवी के पेटीकोट पर काला बंदर थूक लगा रहा है, तू पहले जाकर उसकी थूथन को चाट।'

'जाकर बड़े बापू से पूछ, उसकी मोमबत्ती किस बुढ़िया के गुसलखाने में छूट गई है।'

'तेरे नीम के पेड़ पर दूसरों के आलू उग आए हैं, कागजी तरबूज!'

'तेरी रोती बिटिया को पड़ोसियों का टॉमी बहला रहा है।'

'तुझे पता भी है, छोटे बाबू के जिस्म पर काली-सफेद चित्तियां निकल आई हैं? पहले जाकर उन चित्तियों को सहला और उन पर मोम और गंधक की मालिश कर।'

आदमी अपनी हताशा के चरम पर पहुंचकर जोर से चिल्ला उठता है और उसी आवेश में अपने हाथों को झटक लेता है। तभी वह आश्चर्य के साथ देखता है कि छतरी टूटकर उसके हाथों में आ गई है।

अंतिम गाली का अंतिम शब्द इस तरह दोहराया जाता है, जैसे ग्रामोफोन रिकॉर्ड की सूई एक जगह अटक गई हो :

मालिश कर··मालिश कर··मालिश कर··मालिश कर··मालिश कर··मालिश कर।

दोहराए जा रहे शब्द से तंग आकर आदमी छतरी को नीचे पटक देता है।

आवाज रुक जाती है।

आदमी को पश्चात्ताप होता है कि उसने अपनी छतरी फेंक क्यों दी। वह बैठकर छतरी को सहलाने लगता है।

चारों तरफ से पैरों की आवाज सुनाई देने लगती है, जो लगातार ऊंची होती जाती है।

आदमी आशंकित भाव से छतरी को थामे उठ खड़ा होता है।

पैरों की आवाज धीमी पड़कर विलीन हो जाती है।

आदमी आशंकित भाव से चारों तरफ देख लेता है। फिर एक तरफ को भागता है।

उधर वह सामूहिक हंसी से टकरा जाता है।

वह एक से दूसरी दिशा में भागने का प्रयत्न करता है।

हर दिशा में वह उसी तरह सामूहिक हंसी से टकरा जाता है।

आदमी कुछ पल फिरकी की तरह घूमकर मंच के बीचोबीच स्थिर खड़ा हो जाता है।

बहुत जल्दी-जल्दी एक के बाद एक सुनाई देती आवाजें :

अकेला आदमी और उसकी अकेली लड़ाई।

परचे, पोस्टर और अखबारों की सुर्खियां।

मशीन और आदमी।

राजनीतिक उतार-चढ़ाव।

साहित्यिक आंदोलन।

आर्थिक हेर-फेर।

धार्मिक धर-पकड़।

सभाएं।

सम्मेलन।

जुलूस।

वाकआउट।

हड़ताल।

घेराव।

पर असल चीज, सबसे बड़ी चीज, आदमी की इच्छाशक्ति और निर्णय।

निर्णय इस सबका विरोध करने का।

और उस सबका विरोध करने का, जो इस सबका विरोध करता है।

आदमी को लगता है कि छतरी उसके हाथ से निकलकर उड़ जाना चाहती है। वह उसे पकड़ रखने के लिए संघर्ष करने लगता है।

एक बच्चे की किलकारियां। वह जैसे अपनी बांह छुड़ाकर भाग जाना चाहता है। किलकारियों में शरारत का भाव बढ़ता जाता है।

आदमी छतरी को रोक रखने का प्रयत्न करता हुआ आखिर उसे वश में कर लेता है।

किलकारियां कुढ़ने के स्वर में बदल जाती हैं।

आदमी कुकुरमुत्ते को थप्पड़ लगा देता है।

बच्चा रोने लगता है।

आदमी छतरी को सहलाने-बहलाने लगता है।

बच्चे का रोना सुबकने में बदलकर शांत हो जाता है।

आदमी छतरी को अपने से सटाए हुए सहसा चिहुंक जाता है, जैसे कि छतरी ने उसे काट लिया हो।

डमरू बजने की आवाज।

आदमी छतरी से छुटकारा पाने की चेष्टा करता है, पर सफल नहीं हो पाता। उसकी चेष्टाएं सर्कस में विदूषक की चेष्टाओं जैसी लगती हैं। आखिर किसी तरह वह छतरी को अपने से परे उछाल देता है और उसे पैरों से कुचलने लगता है।

शेर के हुंकारने की आवाज।

आदमी आशंकित होकर छतरी को देखता है और उस पर टूट पड़ता है। दोनों के बीच जैसे धींगामुश्ती होने लगती है।

हुंकारने की आवाज और-और ऊंची होती जाती है।

आदमी कुश्ती में हारकर लंबा हो जाता है। छतरी अब उसकी छाती पर सवार है।

हुंकारने की धीमी पड़ती आवाज की पृष्ठभूमि में एक-दूसरी से आगे आने की चेष्टा करती आवाजें—

सोचना और चाहना···

चाहना और सोचना···

सोचने से अलग चाहना···

चाहने से अलग सोचना···

फिर भी अंतर्मन की आंतरिक प्रक्रियाओं के अनुसार···

जिसका अर्थ है अंतर्मन की आंतरिक प्रक्रियाओं के अनुसार···

अर्थात् अंतर्मन की आंतरिक प्रक्रियाओं के अनुसार···

आदमी का आत्म आत्म आत्म···

आत्म-संतोष···

नहीं···

आत्म-संकोच···

नहीं···

आत्म जो कुछ भी···

बड़ी-बड़ी शक्तियों द्वारा घिरकर···

वे शक्तियां, जो पीछे हैं···

वे शक्तियां, जो आगे हैं···

दाएं की शक्तियां···

बाएं की शक्तियां···

नीचे की शक्तियां···

ऊपर की शक्तियां···

शक्तियां शक्तियां···

शक्तियां शक्तियां···

कई एक स्त्रियां-पुरुष मंच पर आकर छतरियों को तोड़ने लगते हैं। सब छतरियां हाथ लगाते ही टूट जाती हैं। आदमी फटी-फटी आंखों से देखता रहता है।

नृत्य की धुन।

लोग छतरियां लिए नाचते हैं। आदमी अपनी छतरी थामे उठ खड़ा होता है। दूसरों की छतरियों से उसे ईर्ष्या होती है। वह भी दूसरों के पैरों के साथ पैर मिलाकर नाचने की चेष्टा करता है, पर उसके पैर लय में नहीं पड़ते।

नृत्य-संगीत को काटती हवाई हमले के सायरन की आवाज।

लोग अपनी-अपनी छतरियां अपने से सटाए यहां-वहां छिप जाते हैं। आदमी छिपने की जगह ढूंढ़ता है, पर कोई ठीक-सी जगह उसे नहीं मिल पाती।

एक धमाका।

आदमी उछलकर गिर जाता है।

धार्मिक उपदेश का स्वर :

तटस्थता···मुख्य चीज है तटस्थता···जो कि मन की शांति का दूसरा नाम है। मन में शांति होने से ही बाहर का सारा बिखराव सिमटकर···अर्थात् सब टुकड़े एक होकर···

रेडियो एनाउंसर की आवाज :

एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रसारण। इस प्रसारण में महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याएं, राष्ट्रीय दृष्टि से राष्ट्र के सामने प्रस्तुत की जाएंगी। राष्ट्र को राष्ट्रीय संकट से उबारने के लिए, जिस राष्ट्रीय संकल्प की आवश्यकता है···क्षमा कीजिए, और कुछ कहने का समय नहीं है···राष्ट्रीय प्रसारण आरंभ हो रहा है। आरंभ हो रहा है, राष्ट्रीय प्रसारण···

सब लोग सुनने की मुद्रा बना लेते हैं। केवल इस आदमी को सुनने की सुविधापूर्ण स्थिति नहीं मिल पाती।

एनाउंसर :

आप राष्ट्रीय प्रसारण की प्रतीक्षा कर रहे हैं। कृपया थोड़ी देर और प्रतीक्षा करें।

आदमी अपनी छतरी कान से लगाकर बैठ जाता है।

एनांउसर :

आप प्रतीक्षा कर रहे हैं राष्ट्रीय प्रसारण की। आपसे अनुरोध है कि आप थोड़ी प्रतीक्षा और करें।

इस आदमी को छोड़कर और लोग अस्थिर होने लगते हैं।

एनाउंसर :

राष्ट्रीय प्रसारण अभी आरंभ होने को है। आपसे फिर एक बार अनुरोध है कि ···नहीं-नहीं, अब अनुरोध नहीं है···राष्ट्रीय प्रसारण आरंभ हो रहा है। राष्ट्रीय प्रसारण।

गलत रफ्तार से चलते टेपरिकॉर्डर की फैली-फैली आवाजें।

लोग इस तरह सिर हिलाते हैं, जैसे सारी बात उनकी समझ में आ रही हो। आदमी अचकचाया-सा एक-एक को देखता है।

टेपरिकॉर्डर का स्वर स्वाभाविक गति में आ जाता है :

हमें इन सब बातों को अपने ध्यान में, अपने जेहन में, अपने दिमाग में रखकर चलना है। हम जिंदा हैं, तो कुछ उसूलों की खातिर और उन उसूलों की वजह से। क्योंकि जंग हो या अमन, दानिशमंदी और सियासत का तकाजा है कि हम लोग···

लोग अस्थिर होकर बड़बड़ाने लगते हैं। आदमी ध्यान से सुनना चाहता है, पर लोगों की बड़बड़ाहट उसे सुनने नहीं देती।

गलत रफ्तार से तेज चलते टेपरिकॉर्डर की चिच-पिच आवाजें!

लोग फिर ध्यान से सुनते हैं, जबकि आदमी को कुछ समझ में नहीं आता।

टेपरिकॉर्डर का स्वर फिर स्वाभाविक गति में आ जाता है :

कई-कई सवाल सामने आते हैं। और उनमें से हर सवाल, कई-कई दूसरे सवालों की तरफ ले जाता है। सवाल सब अपने में बहुत अहम हैं, पर वक्त की जरूरत उन सब सवालों से ज्यादा अहम है। हमें सबसे पहले इसी सवाल पर गौर करना है कि वह जरूरत क्या है, किस चीज की है, क्योंकि अगर हम अपनी असली जरूरत को समझ लें, तो बहुत-से सवालों का जवाब खुद-बखुद हासिल हो जाता

है। इसलिए देखना यही है कि हमारी आज की जरूरत, और आज की ही नहीं, आने वाले कल की जरूरत और उसके बाद आने वाले कल की जरूरत···

लोग अब फिर नहीं सुनते। आदमी चिल्लाकर विरोध करता है। लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हुए हंसते हैं। आदमी तैश में आकर उनमें से एक को अपनी छतरी दे मारता है। पूरे मंच पर मारधाड़ शुरू हो जाती है। लोग अंधाधुंध छतरियां चलाते हैं।

लड़ाई की लय से हटकर बहुत धीमी लय में कीर्तन :

हरे रामा हरे रामा,
रामा रामा हरे हरे।
हरे कृष्णा हरे कृष्णा
कृष्णा कृष्णा हरे हरे।

लड़ाई की लय उत्तरोत्तर धीमी पड़ती जाती है।

कीर्तन की लय तेज होती जाती है।

लड़ाई सिनेमाई स्लो मोशन में चलने लगती है।

एक पागल की बकझक :

मारा मारा मारा मारा।
आ आ मारा मारा।
आज मारा कल मारा।
आज हारा कल हारा।
यहां मारा वहां मारा।
यहां हारा वहां हारा।
यहां वहां हारा मारा।
हारा मारा मारा हारा।
मारा हारा हारा मारा।

लड़ाई करते लोग अपनी-अपनी जगह फ्रीज हो जाते हैं।

पागल की बकझक तेज हो जाती है :

कल मारा आज मारा।
कल हारा आज हारा।
कल आज हारा मारा।

नाम मारा काम मारा।
नाम काम हारा मारा।

आदमी फ्रीज हुए लोगों में घिरकर चारों तरफ घूमता है।

चाबुक चलने की आवाज। पागल चिल्लाने लगता है :

मारा मारा मारा मारा।
मारा मारा मारा मारा।
नहीं मारा नहीं मारा।
नहीं मारा नहीं मारा।

आदमी ऐसे व्यवहार करता है, जैसे उसे चाबुकों से पीटा जा रहा हो। लेकिन वह अपनी छतरी हाथ में से नहीं छोड़ता।

नारे लगाते जुलूस की आवाजें :

इंकलाब—
जिंदाबाद।
हमारी मांगें—
पूरी करो।
सब की मिलकर एक जबान—
रोटी,कपड़ा और मकान।

आदमी पिटने के बाद बुरी तरह हांफता है।

जुलूस की आवाजें :

सोना-चांदी—
हाय-हाय।
बेगम-बांदी—
हाय-हाय।
पूरब-पच्छिम—
हाय-हाय।
उत्तर-दकिखन—
हाय-हाय।

आदमी अलग-अलग लोगों के फ्रीज हुए हाथ-पैरों को हिलाकर उनमें गति लाने की चेष्टा करता है, पर सफल नहीं हो पाता। हर एक के हाथ-पैर उतने ही हिलते हैं, जितने कि वह हिला देता है। पर बहुत कोशिश करके भी वह किसी के

हाथ से उसकी छतरी नहीं छुड़ा पाता।

जुलूस की लगातार आवाज :

हाय हाय हाय हाय।
हाय हाय हाय हाय।
हाय हाय हाय हाय।

आदमी फ्रीज हुए लोगों के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है।

सब तरफ से पुलिस की सीटियों की आवाजें।

फ्रीज हुए शरीरों में सहसा गति आ जाती है और वे एक तंग घेरे में आदमी के इर्द-गिर्द जमा हो जाते हैं। आदमी अपने को उनके बीच रुंधा हुआ महसूस करता है।

माइक पर आवाज :

वन टू थ्री''टेस्टिंग टेस्टिंग टेस्टिंग''

आदमी घेरे से निकल पाने की कोशिश में और-और रुंधता जाता है।

माइक पर आवाज :

हमारी आवाज''टेस्टिंग टेस्टिंग''अंधेरे में एक चीख है। यह चीख''टेस्टिंग टेस्टिंग टेस्टिंग''अंधेरे की छाती चीरकर''टेस्टिंग''एक नई रोशनी ला सकती है। आज से पहले भी जब कभी यह चीख उठी है''टेस्टिंग टेस्टिंग''इसने अंधेरे की ताकतों को''टेस्टिंग टेस्टिंग टेस्टिंग''दहलाकर रख दिया है। इसलिए वो खौफनाक ताकतें हमेशा इस आवाज को''टेस्टिंग टेस्टिंग''इस चीख को''टेस्टिंग''दबा देने पर आमादा रहती हैं। लेकिन आज हम उन ताकतों को''टेस्टिंग टेस्टिंग टेस्टिंग''आगाह कर देना चाहते हैं कि आज हमारी यह आवाज, हमारी यह चीख, जब फिजाओं में गूंज उठेगी''टेस्टिंग टेस्टिंग''तो बगैर एक बार भूचाल लाए''टेस्टिंग टेस्टिंग टेस्टिंग''बगैर एक बार कहर बरपा किए''वन टू थ्री टेस्टिंग टेस्टिंग टेस्टिंग''

घेरा तंग होते-होते एक ऐसे झुरमुट में बदल जाता है कि सब लोग उसमें से बाहर निकलने के लिए कुलबुलाने लगते हैं। अपने ही बोझ से घेरे के ढह जाने से सब लोग पेट के बल रेंगते उसमें से बाहर आते हैं।

स्कूल की घंटी की आवाज। साथ ही हाजिरी ली जाने लगती है।

पेट के बल रेंगते लोग घंटी की आवाज के साथ ही सीधी पंक्ति बनाकर खड़े हो जाते हैं और एक-एक करके हाजिरी का जवाब देने लगते हैं। केवल यह आदमी अब भी चौकस निगाह से इधर-उधर देखता उसी तरह रेंगता रहता है।

हाजिरी समाप्त होने के साथ फिर स्कूल की घंटी।

सब लोग अपनी-अपनी छतरियां यहां-वहां फेंककर मंच से निकल जाते हैं। आदमी खड़ा होकर भौचक्की नजर से आसपास देखता है।

आदमी : (हड़बड़ी में)
मेरा नाम?
(फिर चिल्लाकर)
मेरा नाम?
अलग-अलग दिशाओं से आवाजें :
इसका नाम?
इसका नाम?
इसका नाम?
इसका नाम?
इसका नाम?

आसपास इतनी सारी छतरियां बिखरी देखकर आदमी की आंखें फैल जाती हैं। वह उन सबको उठाकर बांहों में समेट लेने की चेष्टा करता है।

आदमी : (एक-एक छतरी को उठाता)

इसका नाम? इसका नाम? इसका नाम? इसका नाम? जल्दी-जल्दी चलता एक कठपुतली का स्वर।

और इसके साथ हमारा आज का कार्यक्रम समाप्त होता है। इस कार्यक्रम में जिन-जिन लोगों ने सीटी बजाने, नारे लगाने तथा भाषण देने आदि की भूमिकाएं निभाई, उन सबके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करती हूं। पर सबसे अधिक आभारी हूं मैं, उस एक व्यक्ति के प्रति, जिसके छतरियों के बगीचे में इतनी तरह की रंग-बिरंगी छतरियां उगती हैं, क्योंकि बिना छतरियों की लुभावनी भूमिका के यह अभिनय कदापि संभव न हो पाता। आशा है बगीचे के मालिक की यह उदारता आगे भी बनी रहेगी और छतरियों का यह खेल इसी तरह चलता रहेगा।

आदमी की बांहों में सब छतरियां संभल नहीं पातीं। उन्हें संभाले रखने के लिए उसे बहुत प्रयत्न करना पड़ता है।

भरत वाक्य :
भाषा नहीं, शब्द नहीं, भाव नहीं,
कुछ भी नहीं।
मैं क्यों हूं? मैं क्या हूं?

जिज्ञासाएं डसती हैं बार-बार
कब तक, कब तक, कब तक इस तरह?
क्यों नहीं और किसी भी तरह?
पर किस तरह और, किस तरह?
आकारहीन, नामहीन,
कैसे सहूं, कब तक सहूं।
अपनी यह निरर्थकता?
जीवन को छलता हुआ, जीवन से छला गया,
कैसे जीऊं, कब तक जीऊं।
अनायास उगे कुकुरमुत्ते-सा?
पहचान मेरी कोई भी नहीं आज तक।
लुढ़कता एक ढेले-सा
नीचे-नीचे और नीचे
मैं क्या हूं? मैं क्यों हूं?
भाषा नहीं,
शब्द नहीं,
भाव नहीं,
कुछ भी नहीं।

आदमी छतरियों से लदा, इस बीच सधकर खड़ा रहता है। पर अंतिम पंक्ति तक आते-आते छतरियां उसकी बांहों से फिसलने लगती हैं और एक-एक करके नीचे गिर जाती हैं।

सतजुग के लोग

रिपोर्ताज : मोहन राकेश

ग्यारह सौ ग्यारह नंबर की जीप गली के बाहर रुकती है। ताली घुमाकर, हजारा सिंह ड्राइवर जीप से उतरता है, तो नंदू हलवाई के तीनों कुत्ते कर्मभूमि में उतर आए हैं और उसके गली में कदम रखते ही बेतहाशा भूंकने लगे हैं। पहलवान, उपनाम पलटा, सामने से उसकी तरफ लपकता है, डब्बू और कालू दो तरफ से उसकी टांगों के गिर्द हो लिए हैं। नंदू ने पैतृक गर्व से कुत्तों के कर्तव्यपालन को देखा है और ढीले हाथ से दूध हिलाता हुआ बोला है—'निकल जाइए, निकल जाइए, सरदार साहब! ये कुत्ते भूंकते ही हैं, काटते नहीं। बहुत असील कुत्ते हैं।' और रस्सी के सहारे आगे को उचककर वह कुत्तों को पुचकारने लगता है—'चल इधर डब्बू! आ कालू! चलो इधर…!'

डब्बू और कालू उसकी आवाज सुनकर लौटने को होते हैं, परंतु यह देखकर कि उनका लीडर पलटा, आगंतुक को आगे तक पहुंचाने जा रहा है, वे भी भूंकते हुए उसके साथ-साथ कुएं तक चले गए हैं। वहां से बाल कौर की घुड़की खाकर वे लौट पड़े हैं और आकर नंदू की गद्दी के नीचे जूठी बाटियों के ढेर में दुबककर बैठ गए हैं।

मक्खन सिंह अपनी गौएं लिए हुए अभी नहीं पहुंचा है, परंतु उससे दूध लेने वाले लोग निहाल के चौतरे के पास जमा होने लगे हैं। अभी बाल कौर ब्राह्मणी पल्ले से चौतरे की धूल झाड़ ही रही है कि शाहनी राम कौर हांफती हुई आ पहुंची है और केवल मलमल की एक धोती में लिपटे हुए अपने शरीर को उसने चौतरे के अधिक से अधिक भाग में फैल जाने दिया है। बाल कौर के अंदर से विद्रोह की सांस उठी है, परंतु शाहनी की कलह-शक्ति का स्मरण करके वह चुप रह गई है। उसने माथे का पसीना पोंछकर होठों पर जबान फेरी है और एक कोने में बैठकर स्तोत्रपाठ करने लगी है :

शिरी रामजी के कमल नेतर कटि पीतांबर अधर मुरली, धीरज धरम्।
मुकुट कुंडल कर लकुटिया सांवरे राधे वरम्।

'अच्छा, अच्छा, शाहनी जी पहले ही आई हुई हैं? वाह वाह! वाह वाह! जय गोपाल! जय गोपाल!' कुएं के पीछे की गली से लाला रामदित्ता मल खन्ना की आकृति प्रकट हुई है। शाहनी की अभी भी सांस ठीक से नहीं आ रही है, इसलिए उत्तर में उसके होंठ थोड़ा हिलकर रह गए हैं। खन्ना जी गद्गद भाव से चारों ओर दृष्टि डालकर नम्रता की मूर्ति बने, और जैसे अपने अस्तित्व के लिए संसार-भर से क्षमा-याचना करते हुए एक ओर खड़े हो गए हैं। जीतो दाई उनके सामने ही बैठी है और लाखा सिंह दलाल, जिसकी कुहनियां कमीज से तथा घुटने पायजामे से बाहर निकले पड़ रहे हैं, घूर-घूरकर उसकी ओर देख रहा है। खन्ना जी की आंखें झुकीं, उठीं और फिर झुक गई हैं। अपनी भूरी खादी की टोपी उतारकर उन्होंने सिर पर हाथ फेरा है और एक लंबी सांस ली है। पैंतीसवें साल में पहुंचकर भी जीतो के छरहरे शरीर की रेखाएं अभी वैसी ही हैं। उसके चेहरे का तिल अब भी उतना ही सुंदर लगता है, जितना बीस साल पहले। वह अपनी तीखी आंखों से एक बार देख लेती है, तो शरीर में दूर तक कुछ चुभता चला जाता है। खन्ना जी ने पैर के अंगूठों को दो-एक बार हिलाया है।

'श्री हरि श्री हरि श्री हरि!' और उनके चेहरे पर क्षमा-याचना का भाव और गहरा हो गया है।

भगत रामजी दास को आते देखकर नंदू ने दूध हिलाना छोड़कर फिर रस्सी को पकड़ लिया है। भगत कंधे झुकाए हुए इस तरह राम नाम का उच्चारण करता आ रहा है, जैसे दर्द से कराह रहा हो। उसकी रूखी-पीली आंखें जैसे आसपास कुछ खोज रही हैं—'क्यों रामजी…? आ गया पुष्पक विमान?' उसने एक बार जीप की ओर देख लिया है—'दुनिया तरक्की कर गई है रामजी!' नंदू फिर दूध हिलाने लगा है—'तुम्हारी तरह नहीं कि जो राम का नाम पचास साल पहले लेते थे, वही आज भी लेते हो!'

भगत के होंठ फैल गए हैं और आंखें रसपूर्ण हो उठी हैं—'सब प्रभु की अपरंपार माया है, नंदू शाह! देख, क्या-क्या खेल खेल रहा है!' नंदू ने एक बार दाएं-बाएं देखा है, फिर थोड़ा आगे को झुक गया है—'मैंने तो सुना है कि बंसी इसके सख्त खिलाफ है।'

'कल इसी बात को लेकर घर में बहुत लड़ाई हुई है। चंचला देई ने कल वो-वो कही है, वो-वो कही है कि बस…! कही कि लड़की को ऐसी नौकरी करानी है, तो कंपनी बाग में कोठी ले लो!'

नंदू का फूला हुआ पेट हंसी से थलथलाया है और उसकी मूंछें फैल गई हैं। भगत ने अंदर से उमड़कर आती हुई हंसी को दो बार रोका है और फिर खिलखिला

उठा है।

'शाह जी, मावा हो गया है!' नंदू का नौकर परमा कड़ाही लिए हुए पास आ गया है। उसकी जांघों तक स्याही चढ़ी है और आधी कमीज स्याह हो रही है।

नंदू, मावा देखने लगा है। तीन-चार बार अच्छी तरह खुरपे से हिलाकर उसने आग उगलती आंखों से परमे की ओर देखा है—'तेरी मां का सिर हुआ है! ले जा, अभी और हिला!'

परमा झटके से कड़ाही उठाकर अंदर ले गया है। दूसरा नौकर नरोत्तम बरतन मलता हुआ बिल्ली की-सी हंसी हंसा है।

'चुप रह बे बिल्ली के बच्चे!' नंदू उसकी ओर देखकर गरजा है—'और दही के कूंडे निकालकर बाहर रख और बर्फ वाले को देख। अभी लस्सी के ग्राहक आने लगेंगे।' फिर हाथ से माथे का पसीना पोंछकर वह भगत की ओर देखकर बोला है—'हां, फिर?'

'बहुत कहा-सुनी हुई। वह अपनी चार दिन की सफेद दाढ़ी को खुजलाने लगा है।' प्रकाश कौर ने कहा कि तू 'अपनी लड़की को संभाल, जिसके चरित्तर की सारी गली में धूम मची है।'

'मतलब, खूब गरमागरमी हुई?'

भगत ने गंभीर जानकार के रूप में सिर हिलाया है—'बंसी नहर में डूबने जा रहा था। चंचला देई ने बड़ी मुश्किल से बांह पकड़कर रोका। उसने कहा कि तुम सीढ़ियां उतरोगे, तो मैं खिड़की से छलांग लगा दूंगी।'

'वाह रे मां के बंसीलाल!' नंदू का पेट फिर थलथलाया है और मुंह से हंसी का फव्वारा फूट निकला है—'रामजी, तुम भी पूरे सी०आई०डी० हो!'

हजारा सिंह ड्राइवर को आते देखकर भगत का बढ़ा हुआ कदम रुक गया है। हजारा सिंह बगल में लोहे की ट्रे संभाले है और कैलाश उसके पीछे-पीछे आ रही है। भगत, कैलाश के लाल दुपट्टे और आगे पड़ी हुई चोटियों को देखता रहा है। कैलाश, हजारा सिंह के बराबर जीप में बैठ गई है और जीप स्टार्ट हो गई है।

भगत को आते देखकर रघुपत सिंह पहले ही तख्त से उठ खड़ा हुआ है। उसने अपना आसन अर्थात् टाट नीचे गली में बिछा लिया है और चूल्हे में सिकड़ी लगाकर तीन-चौथाई टूटे हुए पंखे से उसे सुलगाने लगा है। भगत, निहाल के चौतरे के पास एकत्र समुदाय पर एक दृष्टि डालकर तख्त पर बैठ गया है। उसके पालथी मारकर बैठने से बुड्ढे तख्त की चूलें हिल गई हैं। खन्ना जी हाथ जोड़कर 'जय गोपाल' कहते हुए, उसके निकट आ गए हैं। लाखा सिंह ने एक बार वितृष्णा की दृष्टि से

भगत की ओर देखा है और उसकी आंखें फिर जीतो की ओर घूम गई हैं, जो शाहनी राम कौर के साथ अपनी ज्ञानचर्चा में संलग्न हैं।

'घोर कलिकाल है, खन्ना जी!' भगत ने लाखा सिंह की ओर देखकर खन्ना जी को आंख मारी है। खन्ना जी ऐसे गंभीर रहे हैं, जैसे उन्होंने भगत की आंख के अर्थ को न समझा हो।

'इसमें क्या संदेह है!' उन्होंने कहा है, जैसे भगत की बात का और ही अर्थ रहा हो—'जिन बातों की कभी कल्पना भी नहीं कड़ते थे, वे बातें आज अपनी आंखों से देखते हैं। ऐसा समय भी आना था कि लरकियां कमाएं औड़ घड़ वाले बैठकड़ खाएं।'

भगत का ध्यान भी लाखा सिंह से हट गया है और उसके मस्तिष्क में जीप के पहिए घूम गए हैं—'देख लो, तुम्हारी स्त्री-शिक्षा क्या कर रही है?' वह अंगोछे से गले का पसीना पोंछने लगा है। 'शास्त्रों में कहा है कि कलजुग में धर्म एक पैर पर खड़ा रहता है, अब वह भी नहीं रहेगा! आजकल स्कूलों-कॉलेजों में इन लड़के-लड़कियों को क्या साहित्य पढ़ाया जाता है? वह साहित्य, जो भ्रष्टाचार की शिक्षा देता है। उस दिन एक पुस्तक पढ़ रहे थे। क्या पढ़ा उस पुस्तक में?'

भगत ने आंखों में प्रश्नात्मक भाव लिए हुए आसपास खड़े दो-एक और व्यक्तियों की ओर भी देखा है, जो थोड़ा-थोड़ा तख्त के निकट आ गए हैं। भगत ने अंगोछे से गले का पसीना पोंछते हुए क्षण भर के लिए एक नाटकीय विराम दिया है और बोला है—'पढ़ा कि एक पुरुष स्वयं···महाराज स्वयं स्वयं···अपनी पत्नी को अपने मित्र के लिए छोड़कर घर से चला गया। पीछे वह पति के उस मित्र के साथ जंगल में चली गई। और वहां? वहां जाकर क्या हुआ? वहां जाकर उसने पति के मित्र के सामने अपने सब वस्त्र उतार दिए! हे जानकीवल्लभ रघुनाथ स्वामी! तो बोलो, यह आजकल का साहित्य है! कभी रामायण-महाभारत साहित्य था, आजकल यह साहित्य है! द्वापर में दुःशासन ने द्रौपदी का चीर-हरण किया, तो महाभारत हो गया। और आज? आज स्कूलों-कॉलेजों में इस सबकी शिक्षा दी जाती है! यह इस देश की स्वतंत्रता है! आज जिनके हाथों में इस देश का राज-काज है, उनकी भी गाथा सुन लीजिए :

'जब भगवान् रामचंद्र बनों को चले, तो सब अजुध्यावासी उनके साथ हो लिए। ध्यान से सुनो खन्ना जी, पते की बात सुना रहे हैं। आगे-आगे भगवान् चल रहे हैं और पीछे-पीछे सब अजुध्यावासी। कहते हैं कि भगवान्, हम भी आपके साथ ही बनों में जाकर रहेंगे। जब अजुध्या से निकल आए, तो भगवान् को बहुत चिंता

हुई। चिंता यह हुई कि यह सारी जनता यदि साथ चली, तो वनों में जाकर निर्वाह कैसे होगा? हां महाराज, इतनी जनता कि एक समय भी खाए तो सौ योजन के कंद-मूल-फल खा जाए। तो भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम ने उन्हें मर्यादा का उपदेश दिया और अजुध्या लौट जाने को कहा। कहा कि मेरे चरणों में तुम्हें तनिक भी अनुराग है, तो सब नर-नारी यहां से लौट जाओ। तो महाराज, भगवान् का आदेश सिर-आंखों पर धरकर सब नर-नारी वहां से लौट जाते हैं और भगवान् वनों को चले जाते हैं। चौदह बरस बीत जाते हैं। भगवान् राक्षसों का दलन करके लक्ष्मण और भगवती सीता के साथ बनों से लौटकर आते हैं, तो क्या देखते हैं?—देखते हैं कि जहां से उन्होंने अजुध्यावासियों को लौटने को कहा था, वहां पर बहुत-से हिजड़े एकत्र हैं। भगवान् ने समझा कि वे लोग उनके स्वागत के लिए आए हैं, सो बहुत प्रसन्न हुए। परंतु निकट जाकर उनसे पूछते हैं, तो क्या पता चलता है? पता चलता है कि वे चौदह बरस से वहीं पर बैठे हैं। भगवान् सुनकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं और पूछते हैं कि वे चौदह बरस से वहां किसलिए बैठे हैं? इस पर उनका मुखिया हाथ जोड़े हुए कहता है कि हमारे लिए प्रभु आपने कोई आदेश नहीं दिया था, सो हम आपके सेवक, दासानुदास, तब से आदेश की प्रतीक्षा में यहीं बैठे हैं। भगवान् ने सुना, तो चित्त प्रेम से गद्गद हो गया। प्रसन्न होकर कहते हैं कि भक्तो, तुम्हारी इस भावना ने मेरा हृदय और तन-मन-प्राण सब कुछ जीत लिया है। मांगो, क्या मांगते हो? भगवान् ने कहा, मांगो, क्या मांगते हो, तो उनमें आपस में कलह छिड़ गया। किसी को धन चाहिए, किसी को पद चाहिए, किसी को पुत्र-कलत्र चाहिए। बहुत समय व्यतीत हो गया, परंतु कोई निश्चय नहीं कर सके कि क्या मांगें, तो भगवान् अंतर्यामी उनसे कहते हैं···क्या कहते हैं···? कहते हैं, जाओ भक्तो, तुम्हें मैं यह वरदान देता हूं कि कलजुग में एक समय आएगा, जब संपूर्ण भारतवर्ष में तुम्हारा राज होगा और तुममें से प्रत्येक की मनोकामना पूरी होगी। तो महाराज, भगवान् का वरदान वृथा नहीं जाता। अब देख लो, कलिकाल में आकर संपूर्ण भारतवर्ष में उनका राज हो गया है और प्रत्येक की मनोकामना पूरी हो रही है।

लोग खिलखिला उठे हैं। भगत टोपी से गले को हवा करने लगा है।

'तो महाराज, इसीलिए इस राज को रामराज कहते हैं। इस राज में स्त्रियों के कर्म पुरुषों ने ले लिए हैं और पुरुषों के कर्म स्त्रियों ने। इसलिए न स्त्रियों में स्त्रीत्व रहा है, न पुरुषों में पुरुषत्व।'

'तत् तत्! तत् तत्!' गौओं को रस्सी से सहलाता हुआ मक्खन सिंह गली में आ पहुंचा है। उसे देखते ही भगत के आसपास से श्रोताओं का जमघट सहसा बिखर

गया है। भगत कई पल इधर-उधर देखता रहा है कि कोई एक-आध श्रोता भी हो, तो वह अपनी बात जारी रखे, परंतु किसी के भी आंख न मिलाने पर उसने क्षोभ और निराशा की लंबी सांस लेकर टोपी सिर पर रख ली है। अंगोछा कंधे पर डाल लिया है और रूखी आंखों से शून्य में देखता हुआ राम नाम का उच्चारण करने लगा है। बाल कौर ब्राह्मणी इस समय उसके प्रवचन पर टिप्पणी कर रही है।

'भगवान् सरब अंतर्जामी थे। उन्हें नहीं पता चला कि हिजड़े वहां पर क्यों बैठे हैं···? और आजकल वे डफली बजाकर गली-गली में भीख मांगते हैं कि राज करते हैं? निरा झूठ! भगवान् के नाम पर झूठ बोलते लोगों को शरम नहीं आती! भगत बने फिरते हैं!'

भगत ने क्रोधपूर्ण दृष्टि से बाल कौर को देखा है और आंखें दूसरी ओर फेर ली हैं। पहले एक बार 'विधिहुं न नारि हृदय गति जानी' की व्याख्या करते हुए उसकी बाल कौर से लड़ाई हो चुकी है।

सपरेटा दूध की बटलोई सिर पर रखे तनकर चलता हुआ मक्खन सिंह निहाल के चौतरे पर पहुंच गया है। छाती उभरी होने से उसके कंधे पीछे को हटे-से लगते हैं।

'शाहनी, बटलोई के लिए तो जगह छोड़ दिया कर!' उसने बटलोई सिर से उतारते हुए कहा है।

'मुए पोस्ती, इतनी देर क्यों कर देता है?' शाहनी थोड़ा एक ओर को हट गई है।

'मैं देर नहीं करता शाहनी माता, तू जल्दी आ जाती है। तू आप न आया कर, शाह को भेजा कर।'

'मुए, शाह तुझे खरे पैसे देता है? मैं खोटे देती हूं?' शाहनी के माथे पर क्रोध की रेखा भी है और होंठों पर मुस्कराहट भी।

मक्खन सिंह शाहनी के भाव को देखकर मुस्कराया है और उसने दो बार मूंछों पर हाथ फेरा है—'नहीं शाहनी माता, तेरा रुपया तो सत्रह आने का होता है। मगर शाह को आध सेर का डेढ़ पाव भी दे दो, तो वह ले जाता है और तू आध सेर का अढ़ाई पाव लेती है!'

इस निश्चय पर पहुंचकर कि उसकी प्रशंसा हो रही है, शाहनी प्रसन्न हो गई है और उसके मुंह के चारों दांत दिखाई दे गए हैं—'यह नहीं कहता कि रोज मुझे ठग लेता है!'

'शाहनी माता, तू तो ब्रह्मा को ठगकर धरती पर आई है, तुझे कौन ठगेगा?'

शाहनी को लगा है कि इस बार उसकी प्रशंसा नहीं, निंदा की गई है। उसके मुंह से अमृत-वर्षा होने लगी है—'मुए, जबान खींच लूंगी! छोटी जात, जो मुंह में आए, बकता जाता है! मैं तेरे बाप का दिया खाती हूं, जो तेरी जान पर भारी हूं? तेरी मां चुड़ैल आई होगी ब्रह्मा को ठगकर! नीच जात!'

'छिमा कर माता, छिमा कर!' मक्खन सिंह ने अपनी ढीली पगड़ी उतारकर चौतरे पर रख दी है—'तू आध सेर का तीन पाव दूध लिया कर, मगर इस तरह गुस्सा न कर! तेरी तो सारी बरकत है! तू न आएगी, तो बरकत कहां रहेगी?'

'मुआ कमजात!' शाहनी फिर प्रसन्न हो गई है।

मक्खन सिंह ने कमीज भी उतारकर एक ओर रख दी है और बटलोई धोने के लिए कुएं की ओर चला गया है। वहां से लौटकर उसने भूरी गाय के थन सहलाने शुरू किए, तो आधे लोग जाकर उसके इर्द-गिर्द खड़े हो गए हैं।

'मक्खन सिंह, मुझे पहली गाय का दूध दे देना।' रोशन सराफ ने उसके सिर पर पहुंचकर ऐसे स्वर में कहा है, जैसे वही उसका एकमात्र आत्मीय हो। मक्खन सिंह के ऊपर झुके हुए भी उसकी आंखें कहीं और देख रही हैं। पाल सिंह दरजी की दुकान के पास खड़ी निर्मला के चेहरे पर हलकी-सी लाली फैल गई है।

'सबसे पहले तुम्हें दूंगा!' मक्खन सिंह बटलोई में धारें निकालने लगा है।

'और हम जो तड़के से खड़े हैं?' लाखा सिंह बैठे हुए गले से चिल्लाया है। उसका चेहरा ऐसे हो गया है, जैसे कोई मरने-मारने की समस्या खड़ी हो गई हो।

'इससे पहले तुम्हारी बारी है!'

'और हमारी?' भगत भी राम नाम का उच्चारण छोड़कर आगे आ गया है।

'पहले तुम्हारी, फिर लाखा सिंह की।'

'मैं सबसे पहले आकर बैठी हूं, मक्खन सिंह!' बाल कौर ब्राह्मणी ने दूर से फरियाद की है?

'तेरा नाम भी रजिस्टर में लिखा है, कौरा! फिक्र न कर।'

मक्खन सिंह के दूध दुहकर उठने पर आसपास खड़े लोगों में कंधेबाजी आरंभ हो गई है। मक्खन सिंह ने गाय की रस्सी खोलकर कंधे पर डाल ली है और उस जमघट से निकलकर चौतरे पर आ गया है। उसके वहां पहुंचते-न पहुंचते उसके चारों ओर बांहों का घेरा बन गया है। मक्खन सिंह ने दूध का पौवा भरकर पल भर सबको संदेह में रखा है, फिर शाहनी राम कौर के गिलास में डाल दिया है। दूध लेकर भी शाहनी का हाथ पीछे नहीं हटा है।

'मुए, यह दूध है? सारी झाग ही झाग है!' वह अन्य हाथों से अपना हाथ आगे

रखने के लिए संघर्ष करती रही है।

रोशन सराफ का हाथ घेरे में होते हुए भी आगे नहीं बढ़ रहा है। उसकी बांह निर्मला की बांह से छू रही है और उस संगति ने धीरे-धीरे और भी कोमल और पुलकमय स्पर्श का अवकाश प्रस्तुत कर दिया है।

दूध चुक जाने पर मक्खन सिंह ने पगड़ी से मुंह और गले का पसीना पोंछा है और सेर-सवा सेर सपरेटा दूध बटलोई में डालकर, झाग बैठाकर और दूध मांगने वाले ग्राहकों को निपटाने लगा है। लगातार गिलास हिलाने से शाहनी राम कौर की धोती यथास्थान नहीं रही है और उसके हिलते हुए मांस-पिंड बाहर दिखाई दे रहे हैं। मक्खन सिंह ने एक घूंट दूध उसके गिलास में डाला है और चिल्लाया है—'ले, खुले भंडारों वाली माता, तेरे भंडार भरे रहें!'

'मुए, अभी झाग ही झाग है! 'शाहनी फिर भी गिलास हिलाकर झाग बैठाती रही है।

'ले माता, और ले!' मक्खन सिंह ने आधा घूंट दूध और डाल दिया है—'कहे, तो बटलोई ही तेरे घर पर छोड़ आऊं!'

'मुआ, कमजात!' और शाहनी दूध हिलाती रही है।

लाखा सिंह को दूध नहीं मिला है, इसलिए वह उसका दूध छोड़ देने की धमकी दे रहा है।

'तेरे आसरे हैं, लाखा सिंह! छोड़ जाएगा, तो हम भी गली छोड़ देंगे! कल से साइकल पर दो टीन लगाकर दूध बेच लिया करेंगे! हम यहां दूध बेचने के लिए थोड़े ही आते हैं! हम तो इसीलिए आते हैं कि यहां तुम लोगों के दर्शन-पर्शन हो जाते हैं···बस, दो मिनट ठहर जा, अभी दुहकर देता हूं!' और लाखा सिंह की दाढ़ी को हाथ लगाकर मक्खन सिंह काली गाय के थन सहलाने लगा है और आंख दबाकर इधर-उधर देखते हुए जैसे जाप करता जा रहा है—'ऐ खुले भंडारों वाली माता, तेरे भंडार भरे रहें···!'

ब्याह कर ही लूं?

निबंध : मोहन राकेश

आप मुझे नहीं जानते। मैं सीधा-सा लड़का हूं। घर वालों को मुझ पर गर्व है कि मैं उनकी बात नहीं टालता। दूसरे शब्दों में बहुत नम्र स्वभाव का हूं, मुंह में जबान तक नहीं। बाबा बहुत प्यार करते हैं। उनकी नजर में मैं भलमनसाहत के लिहाज से गाय या इसी श्रेणी के जानवरों से किसी तरह कम नहीं, कई बातों में बल्कि जानवरों को भी पीछे छोड़ गया हूं। जानवरों से विशेषता यह है कि पढ़-लिख गया हूं, चार पैसे कमाने लगा हूं और फिर बिन ब्याहे इक्कीस बरस का हो गया हूं।

मेरे गुणों के संबंध में वे जो कुछ कहते हैं, उसे डायरी में नोट न कर लूं, तो बाद में भूल जाता हूं। और मुझे अपने बारे में मालूम भी क्या है? अपना मुंह तक शीशे में देखकर पहचानता हूं। बाबा ने बचपन से पाला है, वही नख-नख से परिचित हैं।

अब वही कहने लगे हैं कि मैं ब्याह के योग्य हो गया हूं। यह योग्यता बिना कोई परीक्षा दिए अचानक कैसे आ गई, मेरी समझ में नहीं आता। पर बाबा भगवान् की भक्ति करते हैं, झूठ नहीं बोल सकते। अवश्य ब्याह के योग्य हो गया हूं। घर में हर रोज चर्चा रहती है।

अम्मी और भाभी के लिए मजाक है, पर मेरे सिर पर चिंता सवार हो रही है। बाबा की बाछें खिली रहती हैं, पर अपना जी घबराता है। ब्याह देखा-सुना जरूर है, पर कभी महसूस नहीं किया। राम जाने, अनुकूल बैठे, या न बैठे! सच कहता हूं, चौबीस घंटे दिल धड़कता रहता है।

योगी मैं नहीं हूं कि ब्याह की कल्पना से घबराऊं और आंखें मूंदकर त्रिलोकी की सैर किया करूं। किसी सुंदरी के सामने आ जाने पर न तो समाधि टूटने का डर रहता है, न समाधि लगाने की आवश्यकता का ही अनुभव होता है। चलती-फिरती कनकलताओं को देख लेता हूं। किसी-किसी कोमलांगी के कटाक्ष से कुछ हलचल भी होती है। मित्रों में बैठकर प्रेम की कल्पित कहानियां सुनने और सुनाने में भी मजा रहता है। पर ये बातें हुईं और बीत गईं। ब्याह कमबख्त तो होकर बीतने

वाली चीज नहीं। अगर आपका ब्याह हुआ है, तो आप आसानी से मेरी बात समझ सकते हैं।

बाबा कहा करते हैं कि मैं दक्खिन-पच्छिम कुछ भी नहीं समझता। सच जानिए, मैं कुछ भी नहीं समझता। पास से देखकर यह नहीं पहचान पाता कि मोहल्ले की अमुक सुंदरी, जो अब पंद्रहवें बरस में पैर रख रही है, पांच साल पहले नौ बरस की भद्दी-सी बालिका थी और मेरे साथ खेला करती थी। दूर से तो पंद्रह से पचीस तक की सभी नई-पुरानी युवतियां एक-सी लगती हैं। कभी-कभी नदी से नहाकर आती हुई प्रौढ़ाएं चिरजात शिशुओं को बांहों में दबाए, बगल में कुंभ लिए किशोरियां ही मालूम देती हैं। रात में सफेद गाय को देखकर भी श्वेतवसना सुंदरी का भ्रम हो जाता है। इस पर भी कोई कहे कि मैं ब्याह के योग्य हो गया हूं, तो मेरी गलती नहीं।

मैट्रिक्युलेशन का सर्टिफिकेट घर में मौजूद है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मैं पूरे इक्कीस बरस का हो चुका हूं। बड़े बुजुर्गों के अनुभव से यह भी जान चुका हूं कि भारतवर्ष के सभ्य इस उम्र में दो-दो बच्चों के बाप होने का इकरारनामा लिखकर पैदा होते हैं। मैं फिर बाईसवें बरस में पैर रख चुकने पर भी ब्याह से आनाकानी करूं, तो बाबा ईश्वर की अदालत में कौन-सा मुंह लेकर जाएंगे? आखिर उस दरबार की हाजिरी पहले उन्हीं को भरनी है।

गुत्थी उलझती जा रही है। मैं घुल रहा हूं। घर वाले कहते हैं, बेटा बढ़ौती पर है। ब्याह के बारे में दबी जबान से भी अपनी राय प्रकट करने लगूं, तो भाभी रोक देती है। ब्याह की बात करना पाप है, ब्याह कर लेना कुछ भी नहीं। शायद इसलिए कि पहली मानसिक प्रक्रिया है और दूसरी शारीरिक। धर्मशास्त्रों के अनुसार पाप का संबंध मन से है। शरीर तो आजकल विज्ञान की सहायता से निर्लेप, निर्विकार होता जा रहा है।

मेरे पास भावी कार्यक्रम का बहाना है, आदर्शवाद की दुहाई है, इसलिए फिलहाल किसी मृगशावाक्षी की मांग में सिंदूर भरने का विचार नहीं। बाबा चिढ़ते हैं कि मैं धर्मशास्त्रों के विरुद्ध आवाज उठा रहा हूं। पर बाबा के धर्मशास्त्र शायद अभी अनुपलब्ध और अप्रकाशित हैं। फिर भी उनका ज्ञान लुप्त नहीं हुआ। वह उनके अभिन्न हृदय-मित्र पंडित लोकनाथ के गहन अंधकारमय मस्तिष्क-कूप में पड़ा है, जहां से आवश्यकता के समय बाहर उछल आता है।

पंडित लोकनाथ बाबा के शब्दों में एक रत्न हैं। ठीक होगा, पर समुद्र-मंथन के समय नौ रत्नों के उपरांत जरा देर से निकले होंगे, इसीलिए देवों-दानवों के बंटवारा करके अपने-अपने लोक को जा चुकने पर ये बेचारे भूतल को ही पवित्र करने के

लिए रह गए! अब आप हमारे पड़ोस में डेरा डाले हैं। वैसे अब भी देवलोक से इनके लिए बुलावे आते रहते हैं, पर यह इस मर्त्यलोक को सूना छोड़ जाना नहीं चाहते। डर है कि एक-आध बुलावा और आने पर ये देवताओं के हठ को टाल नहीं सकेंगे। बाबा का मत है कि इनके हृदय की आवाज भगवान् की आवाज होती है। भगवान् तो शून्य में रहने वाले हैं! हो सकता है, इनके अंदर भी हृदय के स्थान में शून्य धरा हो।

पर इनके देव-दुर्लभ ज्ञान के विरुद्ध एक शब्द भी कहना सविनय आज्ञाभंग की श्रेणी में आ जाता है, तो धर्म-रक्षा विधान के अनुसार अपराध है। तर्क और प्रमाण वकालत के लिए खड़े किए जाते हैं और यह सिद्ध किया जाता है कि प्रकृति ने मनुष्य को मनुष्य बनाया है, इसलिए कि वह सफेद दाढ़ी वालों की रुचि के अनुसार ब्याह करे। अपनी रुचि से तो पशु भी ब्याह कर लेते हैं। तर्कों पर कथावाचकों की मुहर रहती है और प्रमाण आधी हिंदी आधी संस्कृत में उन प्राग्वैदिक ऋचाओं से उधार लिए जाते हैं, जिनका अस्तित्व जानने के लिए सारी ज्ञानेंद्रियां बल खा-खाकर रह जाती हैं। आत्माराम फड़फड़ाकर भी वहां तक फटक नहीं पाते। उस सुदूर भूत के तमोमय गह्वरों से चलकर आए हुए आज्ञापत्र पर ऊंचे आकाश में रहने वाले सितारों की गवाही भी डलवा ली जाती है। अपराधी को अपराध के दंडस्वरूप कोई न कोई लड़की लेनी ही पड़ेगी। बाबा ने मेरे लिए जो सूची तैयार कर रखी है, उसमें से मेरे सभी मित्र (चाहें तो आप भी) अपने लिए छांट-छांटकर दो-दो कुमारियां चुन सकते हैं। लड़की हर एक देखने में अच्छी, खाना पकाने में प्रवीण, सीने-पिरोने में निपुण, गृह-प्रबंध में दक्ष (बच्चे पालने में चतुर) और यथासंभव पढ़ी-लिखी। कुछ विशेषताओं का उल्लेख बाबा इस तरह किया करते हैं :

'श्रीधन जी की कन्या सांवली हुई तो क्या, ठाकुर जी की सेवा अपने हाथों से कर लेती है! मधुपुर के जमींदार की बेटी माना कि कद में चार फुट से दो इंच कम है, पर सिंगर मशीन पर अंगिया, कमीज, ब्लाउज, सब सी लेती है। रानी की लाड़ली लंबी-दुबली जरूर है, पर चंदन का शरबत बनाने में अपना जोड़ नहीं रखती। मोहन बाबू की छोटी साली पढ़ने के नाम से चाहे बालबोध का ही अभ्यास करती है, उसे कुत्ते पालने का बहुत शौक है। (लाहौल बिला कुव्वत!) डॉक्टर सुखलाल की भतीजी यद्यपि पेट में शूल उठने से शिथिल रहती है, बुद्धि उसकी बहुत विचित्र है—बिना रुके रामायण बांच लेती है।' इत्यादि-इत्यादि।

कभी-कभी होने वाली वधू के मातृ-पक्ष व पितृ-पक्ष की चर्चा होती है : नगर के प्रसिद्ध साहूकार चानन सेठ के एक समधी के मित्र की कन्या अभी तक कुंआरी

है! फतहपुर वाले चार मिलों के मालिक हैं और चचेरे-फुफेरे मिलाकर कुल सत्ताईस भाई-बहन हैं। बंगाली मोहल्ले वाली लड़की के पिता अपने चार साल के आत्मज को बड़ा होने पर लेफ्टिनेंट बनाने का विचार रखते हैं। श्यामू की मां जिस लड़की की जन्मपत्री लिए फिरती है, उसके नाना की तीन कोठियां कभी अपनी होती थीं, और जो उनके भी पिता थे, उन जैसा हट्टा-कट्टा आदमी फिर नहीं देखा गया। इत्यादि।

सचमुच यदि ये सब बालाएं मेरे द्वारा ही सौभाग्यवती बनने की प्रतीक्षा में हैं, तो मुझे गेरुआ पहनकर वानप्रस्थ हो जाना चाहिए। ऐसा अंधेर मुझसे न होगा कि एक की कामना-पूर्ति करके कितने ही आशाविभोर हृदयों में निराशा का संचार कर दूं। नहीं जी, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इतना बड़ा उत्तरदायित्व मैं कैसे ले लूं? इतनी नवयुवतियों की (जिन्हें कल को भारत की माताएं बनना है) उमंगें मैं कैसे मसल दूं? कैसे कर लूं ब्याह?

पर यह बात आपसे कर रहा हूं। बाबा सुन लें, तो अपने को बिना एकादशी के व्रत रखना पड़े। बाबा का मतलब बहू से है, और अपनी बात में दखल वह सहन नहीं करते। जो कोई हो, पर हो कन्या, उन्हें मंजूर है। कौन समझाए उन्हें कि आजकल मामूली दफ्तर की क्लर्की के लिए भी सिफारिश के अलावा प्रमाणपत्र और सदाचार-पत्र दिखाने पड़ते हैं, यह तो मुआमिला ब्याह का है!

बाबा की दृष्टि में ब्याह के कई लाभ हैं, और वह उनका बखान अच्छी-खासी भूमिका बांधकर किया करते हैं। बहू के आने से अम्मी और भाभी, बाबा और बेबी, सब किसी न किसी तरह फायदे में रहेंगे। छिपकर सुनता हूं, शायद मुझे भी कोई लाभ हो, पर नहीं। मोहल्ले की छोरियां तक लाल चूड़े वाली दुलहिन से खेलेंगी, पर अपनी कहीं गिनती नहीं। दूध की मक्खी कहलाई दूध की और फेंकी गई दूध के बाहर!

भाभी डरा देती है कि निश्चय होने में देर नहीं। निश्चय किसका होगा, यह महामाई वसुंधरा भी नहीं जानती। बाबा रात को ऊंघते-ऊंघते फैसला करें, तो रामायण बांचने वाली का जन्म सफल होगा। किसी दिन दाल में नमक कम देखकर पुलाव पकाने वाली के लिए भी लालायित हो सकते हैं। नहीं तो तानपूरा बजाने वाली ही सही, अखरोट चबाने वाली ही सही—घर में एक आ जाएगी, कोई भी सही, कैसी भी सही।

इधर एक और मुसीबत है, जिसने जीना कठिन कर रखा है। अभी उस दिन की बात है, स्वदेशी स्टोर के आगे इतनी भीड़ थी कि अनजाने ही उस विलायती घी

वाले की बेटी से टकरा गया, जो शायद अपने सौंदर्य को अनिंद्य और विशुद्ध समझती है। उसने आंखें तरेरकर देखा, तो मैं लड़खड़ाकर पीछे से आती हुई एक अल्हड़ नवयुवती पर गिरता-गिरता मुश्किल से संभला। उस घबराई हुई कृष्णवदना चकोराक्षी से इतना कहा ही था कि क्षमा करना बहन जी, तब उसकी रेशमी लहंगे वाली अम्मा ने मेरे सिर पर हाथ फेरकर बड़े मीठे स्वर में पूछा—'कहो काका (छोटों के लिए प्यार का संबोधन) जी, कैसे हो? पहचाना, तो यह वही कुंभवदना थी, जो पिछले छह महीने से कन्यादान करने के लिए उतावली हो रही थी।

और इसके बाद जब वह साइकिल वाली सुंदरी छात्रा उस दिन खुली सड़क पर सबके सामने मुझे गिराकर निःसंकोच क्षमा मांगने लगी, तो मैंने रंच मात्र भी क्रोध नहीं किया। सोचा, शायद इसके पिता भी बाबा से बात चलाने वाले हों।

भाभी उस प्लास्टर ऑफ पेरिस की चलती-फिरती प्रतिमा की ओर संकेत करके कल कई बार जतला चुकी है कि इसी सांचे में ढली हुई देवरानी के लिए ऑर्डर दे दिया गया है। मेरी महत्त्वाकांक्षाएं विद्रोह कर रही हैं। मेरे आदर्श मजबूत दीवार की तरह मुझे घेरे हैं। मैं बाबा से स्पष्ट कह दूंगा, ब्याह मानवीय असफलता की सीढ़ी है, मैं ब्याह नहीं करूंगा। मेरी धारणा प्रबल है। वह डगमगा नहीं सकती।

यही सोचते-सोचते रात भर नींद नहीं आई। चाय पीकर गरम-गरम बिस्तर से निकला और दस मिनट में फिर बिस्तर पर ही आ गया हूं। पांचों अंगुलियां बारी-बारी बत्तीस दांतों के अंदर जाती हैं। घर में बेबी का मुंडन मेला-सा बन रहा है। मैं ऊपर भाभी के कमरे तक गया था। भाभी अपनी सगी मौसेरी बहन के बालों के पिन ठीक कर रही थी। उसकी शोख आंखों ने मुझे देखा, तो मैं उलटे पैरों सीढ़ियां उतर आया।

वह साइकिल वाली सुंदरी छात्रा भाभी की ही मौसेरी बहन है, यह पहले से मालूम होता, तो उस दिन उसकी साइकिल से ठोकर खाकर तो न गिरता। उफ! उसकी एक नजर ने ही मेरा आधा लहू सुखा दिया है। और कमबख्त महरी कह रही थी कि भाभी ने उसे देवरानी बनाने का हठ करके सबको पहले से मना लिया है। मेरे दिमाग में वे साइकिल के पहिए घूम रहे हैं। उस दिन वाला सूट अभी तक ड्राईक्लीन होकर नहीं आया।

बाहर सीढ़ियों पर शायद उसी के सैंडलों की आवाज हो रही है—खट्! खट्! खट्!

हे भगवान्! क्या करूं? कर लूं ब्याह? ब्याह कर ही लूं?

दिन ढले

पहली फिल्म—पटकथा : मोहन राकेश

11वां दृश्य

प्रेम के घर का बाहरी भाग।

(प्रेम का घर गांव से कुछ अलग-सा बना हुआ है। वहां से श्रीनगर को जाने वाली पहाड़ी पगडंडी दूर तक दिखाई देती है। वहीं एक शिला पर बैठी रूपी पगडंडी की ओर देखती हुई गा रही है। दिन ढलने को है।)

गीत :

दिन ढले, दिन ढले।
आशा के उज्ज्वल दीप जले।
पच्छिम में छिप रहा उजेला, छल-छल बहता पानी
इनके ऊपर मस्त हवा से सुन-सुन नई कहानी,
मुख में ले नन्हे-से तिनके—
कहां बसेरा नया बसाने, यह दो पंछी साथ चले?
दिन ढले, दिन ढले।

यह भी दिन, वह भी दिन होगा, जब हम जा मंझधार
ढलते सूरज की लाली में खो सारा संसार,
लहरों में पतवार छोड़कर...
उस घाटी में जा पहुंचेंगे, जिसमें सुंदर स्वप्न पले।
दिन ढले, दिन ढले।

(वह रुक जाती है और अस्ताचलगामी सूर्य की सिमटती हुई किरणों की ओर देखने लगती है। अंधेरा गहरा होता जा रहा है। दूर से एक घटा भी उठने लगी है, जिसमें चमकती हुई बिजली भी बीच-बीच में दिखाई दे जाती है। रूपी तन्मय होकर उसी ओर देखती रहती है।

इधर पगडंडी पर प्रेम आता हुआ दिखाई देता है। वह बिलकुल पास पहुंच गया है। रूपी का ध्यान अचानक टूटता है।)

स्याह और सफेद

उपन्यास-अंश : मोहन राकेश

तीस-पैंतीस व्यक्तियों की भीड़ में घिरा हुआ चंदन जब पुल की सीढ़ियां चढ़ने लगा, तो अट्ठाईस-उनतीस बरस के एक युवक ने उसके बराबर आकर भारी मगर धीमे स्वर में कहा—'भाई साहब, टिकट थर्ड क्लास का है कि सेकेंड क्लास का?'

चंदन का चेहरा लाल हो गया। वह कोई उत्तर न देकर चुपचाप सीढ़ियां चढ़ता रहा।

वह युवक उसके कदम के साथ कदम मिलाता हुआ फिर बोला—'भाई साहब, हमने पूछा था कि टिकट थर्ड क्लास का है कि सेकेंड क्लास का?'

'क्यों?' चंदन कुछ तेज स्वर में बोला—'आपको यह पूछने की जरूरत किसलिए है?'

'जरा आहिस्ता बात कीजिए,' उसने चंदन का हाथ इस तरह दबाया, जैसे कोई बहुत रहस्य की बात हो रही हो—'एक मिनट दम लीजिए, अभी बात करते हैं।' और उसे रोककर उसने सत्यरत्न से इशारा करते हुए कहा—'चलिए, चलिए आप लोग, हम भाई साहब से एक मिनट बात करके आ रहे हैं।'

चंदन कुछ पल रुका रहा। वह उसके कान के पास मुंह लाकर बहुत धीमे स्वर में बोला—'बात यह है भाई साहब, कि अगर टिकट है सेकेंड का, तब तो कोई बात ही नहीं है। धड़ल्ले से निकल चलते हैं। और अगर है थर्ड का, तो निकालकर चुपके से हमारे हाथ दे दीजिए। आप शान से बाहर निकल जाइएगा, हम पीछे से देखते रहेंगे। क्या कहते हैं?'

क्षण भर के लिए चंदन का सिर भन्ना गया, मगर उसने चुपचाप अपने गुस्से को पी लिया।

'आप चले आइए।' उसने कहा—'मेरे पास जो भी टिकट है, मैं खुद दरवाजे पर दूंगा।'

'वह आप की मरजी है।' युवक ने अपनी ढीली पतलून को कुहनियों से ऊंचा उठाते हुए कहा—'हमने तो आपसे एक बात कही थी।'

स्टेशन के बाहर एक टैक्सी इंतजार कर रही थी। टैक्सी में भी वह युवक उसके साथ ही बैठा। टैक्सी की खिड़की से सिर निकालकर उसने सत्यरत्न को इशारे से पास बुलाया और उसके कान के पास मुंह ले जाकर बोला—'देखिए, आप कोई फिक्र मत कीजिएगा। हम वहां सब इंतजाम ठीक कर लेंगे। हरीश जी को चाहे जब भेज दीजिएगा। उनके आने तक हम इनके पास ही रहेंगे।'

टैक्सी चल पड़ी, तो चंदन ने एक बार गौर से उसे देखा। वह ठिगने कद और सांवले रंग का दुबला-पतला युवक था और उसके चेहरे की हड्डियां बाहर को निकली हुई थीं। चेहरे पर छोटी-छोटी मूंछें उसने शायद इसलिए पाल रखी थीं कि उनसे उसके ठिगने कद की कुछ क्षतिपूर्ति हो जाए। वह काला सूट पहने था और भड़कीले लाल रंग की टाई लगाए था। उसने इस तरह तिरछा होकर, जैसे कहीं बहुत दूर हाथ डालना हो, अपनी पतलून की जेब से सिगरेट की डिब्बी निकाली और चंदन की तरफ बढ़ाकर पूछा—'क्यों साहब, सिगरेट पीते हैं?' उसकी आवाज इस तरह भारी थी, जैसे उसका संबंध उन पेशों में से किसी एक से हो, जिनमें आदमी को बाजार में जगह-जगह खड़े होकर भाषण देना पड़ता है।

'जी नहीं, मैं नहीं पीता। आप पीजिए।' कहकर चंदन ने पीछे टेक लगा ली।

'मेरा नाम भाई साहब, राधेश्याम है।' उसने सिगरेट सुलगाते हुए कहा। वैसे लोग मुझे राधेलाल कहकर बुलाते हैं। दियासलाई फेंककर उसने सिगरेट को तीसरी और चौथी उंगली के बीच रखा और एक कश लगाकर कहा—'यह बहुत ही अच्छी बात है कि आपको इसका ऐब नहीं है। सच मानें, हमें जानकर बहुत ही खुशी हुई। पैसा ऐसी चीज है भाई साहब, कि खामखाह आदमी को ऐब लगा देता है। हमें भी यह शौक साला फिजूल के पैसे ने ही लगाया है, वरना अच्छी चीज हम भी इसे नहीं समझते। हम अभी बारह साल के थे जब हमारे वालिद साहब बहुत बड़ी जायदाद छोड़ गए थे और हम अकेले बेटे थे, सो जो होना था वही हुआ। पड़ गए ऐसी-वैसी सोहबत में। यह सिगरेट का ऐब भी उन्हीं दिनों से लगा है। सोचिए, बारह साल की उम्र से। अब अक्ल आने पर रोते हैं, मगर यह ऐब छुड़ाए से छूटने वाला थोड़ा ही है? रोज दिन में डेढ़ रुपया-दो रुपया इसमें फुंक जाता है। आपने बहुत ही अच्छा किया जो इसकी लत नहीं लगाई। कोई चीज है साली कि पैसा भी फूंको और अपना कलेजा भी जलाओ। क्या कहते हैं?'

उसने एक बड़ा-सा कश खींचा, खिड़की से सिर निकालकर गला साफ किया और बोला—'माफ कीजिएगा, मैं जान सकता हूं कि आप कितने भाई हैं?'

चंदन के माथे पर बल पड़ गए, मगर शीघ्र ही उसने अपने को ठीक कर लिया।

'मेरा एक छोटा भाई और है।' उसने कहा।

'उसका तो अभी ब्याह नहीं हुआ होगा, आपसे छोटा जो है।' और उसने चुटकी बजाकर सिगरेट की राख झाड़ दी।

चंदन चुप रहा।

'और बहन भी है?'

'एक बहन है।' चंदन ने बात को जल्दी से समाप्त करने के लिए कहा–'उसका ब्याह हो चुका है।'

'हूं।' राधेलाल ने एक लंबा कश खींचकर कहा–'आपसे बड़ी होगी।'

'मुझसे दो साल छोटी है।'

राधेलाल कुछ देर सिर हिलाता रहा। फिर बोला–'आपको उसे साथ लाना चाहिए था।' उसने बांह फैलाकर चंदन की तरफ रुख कर लिया और कहा–'बुरा मत मानिएगा, हमारे खयाल में आपको भाई को भी साथ लाना चाहिए था। वैसे तो खैर आदमी अपनी सहूलियत देखता है, मगर भाई साहब, ब्याह का मौका तो फिर ब्याह का ही मौका है। इस मौके पर दो-चार हजार सिर पर उठाना भी पड़े, तो आदमी को पीछे नहीं हटना चाहिए। ब्याह कौन रोज-रोज होता है? क्या कहते हैं?'

'अब हम लोग चल कहां रहे हैं?' चंदन ने पूछा।

'आपके लिए एकदम फर्स्ट क्लास होटल में कमरा लिया गया है साहब।' राधेलाल निहायत बेतकल्लुफी से उसके कंधे पर हाथ रखकर बोला–'हमने सत्यरन्न जी से कहा कि भाई साहब के ठहरने का इंतजाम ऐसा होना चाहिए कि बस'''आप अभी सत्यरतन जी को जानते नहीं हैं, निहायत दिल-गुर्दे वाले आदमी हैं। अब तो खैर आप जान ही जाएंगे। उन्होंने हर चीज का इंतजाम फर्स्ट क्लास किया है, एकदम ए क्लास। लोगों के दिलों पर सांप डोल रहे हैं। कोई क्या खाकर उनका मुकाबला करेगा? आपको भी भाई साहब याद रहेगा कि हां, हमारा भी ब्याह हुआ था'''।'

टैक्सी होटल के सेहन में जाकर रुकी। कुली से सामान उतारने को कहकर राधेलाल एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की तरह जरा झुककर आगे-आगे चलने लगा। सेहन पार करके वह बरामदे की सीढ़ियां चढ़ा और एक कमरे के दरवाजे के बाहर रुककर बोला–'जरा देखिएगा क्या चीज ली गई है आपके लिए।'

जेब से ताली निकालकर उसने दरवाजा खोला और इस तरह एक कदम पीछे हट गया, जैसे किसी प्रदर्शिनी का उद्घाटन कर रहा हो। 'तशरीफ लाइए।' उसने

कहा–'मैं अपने सामने कमरा ठीक कराके गया था।' वे दोनों कमरे में दाखिल हुए, तो वह उसका हाथ पकड़कर बोला–'जरा यहां के फर्नीचर पर नजर डालिए। क्या किसी सेठ-साहूकार के घर का फर्नीचर होगा। आप इस काउच पर बैठकर देखिए।' चंदन का हाथ पकड़े हुए साथ ही काउच पर वह बैठ गया।

मजदूर आकर सामान अंदर रख गया था। चंदन उठकर अपना बैग खोलने लगा। राधेलाल ने जरा झुककर फूलदान उठा लिया।

'यह फूलदान आपने नहीं देखा।' उसने कहा–'कम से कम दस तरह के फूल इसमें लगवाकर गया था।'

चंदन ने बैग खोलकर तौलिया और साबुन वगैरह निकाला और उसे बंद करता हुआ बोला–'मेरा खयाल है आपको उधर भी कई तरह के काम होंगे। आप चलिए, मुझे जिस चीज की जरूरत होगी मैं मंगवा लूंगा। होटल है, इसलिए कोई दिक्कत तो होगी नहीं।'

'अरे आप कैसी बात करते हैं भाई साहब।' राधेलाल फूलदान रखकर काउच पर सीधा होता हुआ बोला–'यह भी कोई बात में बात है कि हम आपको अकेले छोड़कर चले जाएं। यह बात आपकी बिलकुल सही है कि उधर भी कई तरह के काम हैं, मगर आपके पास बैठना भी भाई साहब एक काम ही है और सबसे बड़ा जिम्मेदारी का काम है। वैसे आपके पास बैठने की ड्यूटी हरीश जी की थी, हरीश जी शकुंतला जी की सहेली विभा के हस्बैंड हैं। मगर उन्होंने कहा कि वे खाना खाकर ही उधर आएंगे, सो हमने सत्यरतन जी से कहा कि तब तक हम यहां आपके पास ड्यूटी देंगे। भाई साहब, बारात के पास अपने एक आदमी का होना बहुत जरूरी होता है। ब्याह-शादियों का मामला ऐसा है कि न जाने कब कौन-सी बात उठ खड़ी हो। क्या कहते हैं? आपके साथ तो खैर बारात नहीं है, आप अकेले हैं, फिर भी एक आदमी का यहां होना तो बहुत जरूरी है ही। कहीं आपके मन में आ जाए भाई साहब, कि हम ब्याह नहीं कराते, और आप उठकर वापस ही चल दें तो बताइए, हम यहां किससे पूछेंगे?' वह अपने छोटे-छोटे दांत निकालकर हंसा और बोला–'हमारी बात का बुरा मत मानिएगा भाई साहब। हम हंसी में कह रहे हैं। हां, कहीं आप हमारी बात का बुरा ही मान जाएं। हमारी कुछ आदत ही है कि हर वक्त हंसी-मजाक करते रहते हैं। घर में भी हमारा रात-दिन हंसी-मजाक चलता है। हमारी ये कई बार बहुत बिगड़ती हैं कि तुम कभी तो अपनी यह हंसी छोड़ा करो, दूसरे बुरा मान जाते हैं।'

चंदन अपना सूटकेस खोलकर उसमें से कपड़े निकाल रहा था। राधेलाल

उठकर उसके पास आ गया।

'भाई साहब, रात को कौन से कपड़े पहन रहे हैं?' उसने कहा—'चंदन अपने कपड़े निकालकर बाहर रखता रहा।'

'यह तो उस वक्त देखा जाएगा।' उसने कहा—'कुछ भी पहन लूंगा।'

'भाई साहब, बुरा न मानें तो हम एक राय दें।' राधेलाल झुककर उसके सूटकेस में झांकता हुआ बोला—'रात को आपको डार्क ग्रे कलर का सूट पहनना चाहिए। उसके साथ गहरे सुर्ख रंग की टाई हो, तो क्या कहने हैं। दोनों चीजें आपके पास हों, तो कोई बात ही नहीं, वरना हम अभी इंतजाम किए देते हैं। राधेलाल की फुर्ती भी आप देखिएगा कि कैसे सब इंतजाम करता है। रात को आपकी वह शो निकलनी चाहिए कि बस···लोग देखकर एक बार कह उठें कि हां, सत्यरतन जी ने कुछ देखकर ही अपना दामाद चुना है। आपको शायद पता नहीं है, सत्यरतन जी हमारे सगे चाचा की तरह हैं। और शकुंतला जी, आपकी होने वाली वो, हमारी तो बहन की तरह हैं। उस नाते समझिए, हम आपके साले हैं, आप हमारे बहनोई हैं।'

'आप बैठिए, मैं जरा नहा आऊं।' चंदन ने कहा। सफर की वजह से तबीयत कुछ परेशान हो रही है। उसने कमीज और बनियान बाहर रखकर बाकी कपड़े बंद कर दिए और नहाने के कमरे में जाने के लिए तैयार हो गया।

'हां-हां, बड़े शौक से।' राधेलाल बोला—'आप नहाइए और हम उतनी देर में नाश्ते का इंतजाम करते हैं। मगर भाई साहब, एक बात पूछते हैं, बुरा मत मानिएगा। आपके साथ यही सामान है या और भी कुछ है?'

'क्यों?' चंदन ने आश्चर्य के साथ उसकी तरफ देखा। 'और सामान होता तो वह भी साथ ही आया होता। आपके सामने ही तो मैं गाड़ी से उतरा हूं।'

'हम ऐसे ही पूछ रहे हैं।' राधेलाल बोला—'चाची जी कह रही थीं कि शकुंतला जी के गहने और कपड़े आप साथ लाए हैं, मगर किसी को दिखाएंगे नहीं, बंद के बंद ही शकुंतला जी को दे देंगे। हमने कहा कि शायद आपके इसी सूटकेस में हों। मगर लगता है आप वे सब चीजें घर पर ही छोड़ आए हैं, वहीं जाकर उन्हें देंगे। हां, ठीक है। जब चीज दिखानी नहीं, तो बोझ साथ लेकर आने की क्या जरूरत थी? जिसे पहनने हैं, वह अपने घर जाकर पहन लेगी।'

चंदन के होंठों पर खुश्क-सी मुस्कराहट आ गई।

'मैं भाई साहब, कोई भी चीज घर पर छोड़कर नहीं आया।' उसने तौलिए को अपने बाएं हाथ पर लपेटते हुए कहा—'आपकी चाची जी ने अगर आपसे ऐसा कुछ कहा है, तो गलत कहा है।' और वह होंठों को सिकोड़े हुए बाथरूम में चला गया।

चंदन का मन सहसा उदास हो गया था। उसे समझ नहीं आ रहा था कि क्यों उन लोगों ने पहले ही ये बातें उसे नहीं लिख दीं। वह एक विशेष धरातल पर ब्याह के लिए तैयार होकर आया था, यहां अपने को एक और ही धरातल पर पा रहा था। परंतु उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि उस संबंध में वह कर क्या सकता है। उसे पहले से इसका जरा भी आभास होता, तो संभव था कि वह ब्याह का विचार छोड़ देता। परंतु अब ब्याह से कुछ घंटे पहले वह अपना विचार कैसे बदल सकता था?

उसने नल पूरा खोल दिया। पानी की धार छींटे उड़ाती हुई फर्श पर गिरने लगी। धार में भीगने से पहले वह कुछ देर साबुन हाथ में लिए खड़ा रहा। कल गाड़ी की रात और आज की सुबह, दोनों में कितना अंतर था। कल वह आज के संबंध में क्या सोच रहा था और आज क्या महसूस कर रहा था। उसने अपना पैर आगे बढ़ा दिया और कुछ देर उसे भीगते देखता रहा। फिर वह धार के नीचे बैठ गया। और शरीर पर साबुन लगाने लगा। उस थोड़े से समय में ही जैसे उसने उम्र की कई सीढ़ियां लांघ ली थीं और अपने को पहले से कहीं प्रौढ़ महसूस कर रहा था। साबुन लगाकर उसने शरीर को मल-मलकर धोया, जैसे उस परिस्थिति को लेकर सोचने के साथ शरीर को उस तरह मलने का कोई गहरा आंतरिक संबंध हो।

वह बाहर निकला, तो राधेलाल एक छोटी-सी कॉपी निकालकर उसमें कुछ हिसाब लिख रहा था। उसे देखकर उसने कॉपी बंद करके जेब में रख ली और मुस्कराता हुआ बोला—'वाह भाई साहब, अब तो बिलकुल जच गए आप।'

चंदन भी उत्तर में मुस्कराया और गीला तौलिया कुरसी की पीठ पर फैलाकर अपने बेग से कंघा-शीशा निकालने लगा।

'भाई साहब, यह जिंदगी भी क्या चीज है!'

चंदन ने घूमकर उसकी तरफ देखा। राधेलाल ने दूसरा सिगरेट सुलगा लिया था और एक पैर काउच पर रखकर जरा फैलकर बैठ गया। उसके मुंह से निकला हुआ धुआं हवा में लचक रहा था।

'क्यों, आप जिंदगी की चिंता क्यों करने लगे?' चंदन स्वस्थ भाव से बोला।

'ऐसे ही एक बात कह रहे हैं।' राधेलाल लंबा कश खींचकर बोला—'हमारी आदत है भाई साहब कि हमारे मन में बात आती है, तो मुंह से कह देते हैं। यह भी बात मुंह में आई थी, सो कह दी।' और ठीक बात भी है कि परमात्मा ने जिंदगी भी क्या अजीब चीज बनाई है।'

चंदन कुछ न कहकर अपने बाल ठीक करने लगा। जब तक वह तैयार हुआ, तब तक चाय भी आ गई। राधेलाल सीधा होकर बैठ गया और चाय बनाने लगा।

'भाई साहब, चाय में आप कितनी चीनी पीते हैं?' उसने पूछा।

'सवा या डेढ़ चम्मच।'

'और अंडे का परहेज तो नहीं करते?'

'नहीं, क्यों?'

'ऐसे ही पूछ रहे हैं। हमने साथ पेस्ट्री मंगाई है। कहते हैं पेस्ट्री में अंडा पड़ता है। हमने कहा शायद परहेज करते हों।'

'जी नहीं, मैं अंडे का परहेज नहीं करता।' कहता हुआ चंदन आकर उसके सामने की कुरसी पर बैठ गया।

राधेलाल कुछ सोचता-सा चाय में चीनी मिलाता रहा। फिर बोला—'और मांस-आंस का परहेज भी नहीं करते?'

उसने प्याली चंदन की तरफ बढ़ा दी। चंदन ने प्याली उसके हाथ से लेकर एक हलका-सा घूंट भर लिया।

'हमारे घर में नहीं बनता।' चंदन ने कहा—'मगर कभी-कभार मैं बाहर खा लेता हूं।'

'अच्छा?' राधेलाल जैसे चौंक गया। 'तब तो कभी-कमार ड्रिंक भी ले लेते होंगे?'

चंदन उसके पूछने के ढंग पर थोड़ा मुस्करा दिया और बोला—'नहीं, ड्रिंक-ब्रिंक मैं नहीं लेता।'

राधेलाल अपनी प्याली उठाने से पहले सिगरेट के लंबे-लंबे कश खींचकर उसे समाप्त कर देना चाहता था। सिगरेट की राख इतनी बढ़ गई थी कि वह सहसा झड़कर उसके कपड़ों पर गिर पड़ी। कपड़े झाड़ते हुए उसने सिगरेट का टुकड़ा ऐश-ट्रे में डाला और प्याली की तरफ झुकते हुए बोला—'सत्यरतन जी के घर में तो भाई साहब अंडा भी नहीं जाता, आपको पता ही होगा। मैं सोच रहा था कि अगर आप ड्रिंक भी लेते हों, तो···' और उसने एक विशेष दृष्टि से उसे देखकर अपनी प्याली उठा ली।

चंदन चुपचाप चाय के घूंट भरता रहा। राधेलाल फिर बोला—'सत्यरतन जी इन बातों का बहुत खयाल करते हैं। और लोग देखिए ऐसे होते हैं कि अपने मन से ही सौ तरह की बातें बना लेते हैं। हमसे ही कोई कह रहा था कि भाई साहब ड्रिंक का भी परहेज नहीं करते। हमने कहा कि यह कभी हो ही नहीं सकता। आपसे

तो हमने पूछा है, लेकिन उस वक्त भी हमें दिल में पक्का विश्वास था कि ऐसी बात हो ही नहीं सकती। सत्यरतन जी कभी लड़की का रिश्ता ऐसी जगह नहीं कर सकते। भाई साहब, बातें करने वाले ऐसे मौके पर हर तरह की बातें करते हैं। हम किसी का मुंह थोड़े ही पकड़ सकते हैं? क्या कहते हैं?'

'आप ठीक कह रहे हैं।' कहकर चंदन चाय पीता रहा।

'अब विभा जी हैं।' राधेलाल एक घूंट भरकर हाथ से मुंह को पोंछता हुआ बोला—'शकुंतला जी की सबसे अच्छी सहेली हैं। वही, जिनके हस्बैंड अभी आपके पास आएंगे। वह शकुंतला जी से कह रही थीं कि भाई साहब ने एम०ए० पास किया है, तो फिर स्कूल में क्यों पढ़ाते हैं? किसी कॉलेज में नौकरी नहीं करते? मगर हमने कहा कि जब उन्होंने कहा है कि एम०ए० पास हैं, तो यह कैसे हो सकता है कि एम०ए० पास न हों? सत्यरतन जी क्या मूर्ख हैं कि एम०ए० पास लड़की का ब्याह बी०ए० पास लड़के से कर देंगे? एक बात कह रहे हैं भाई साहब, बुरा मत मानिएगा। वह बात तो एक आम अक्ल वाला आदमी भी सोच सकता है कि एम०ए० पास लड़की का ब्याह कम से कम एम०ए० पास लड़के से होना ही चाहिए। क्या कहते हैं?'

चंदन की समझ में नहीं आया कि उसकी बात पर हंस दे या क्या कहे। उसकी प्याली खाली हो गई थी। वह अपने लिए दूसरी प्याली बनाने लगा।

'यह चाय आपको कैसी लगी?' राधेलाल ने पूछा।

'अच्छी चाय है।' उसने कहा।

'चाय तो फिर भाई साहब, होटल की ही होती है।' राधेलाल बोला—'हम लोग कितना ही करें, मगर घर में वैसी चाय नहीं बन सकती जैसी होटल में बनती है। घर की चाय में ससुरा फ्लेवर ही नहीं आता। हमारे घर में दिन में तीन दफे चाय बनती है, मगर जो बात इस चाय में है, वह बात उसमें कभी पैदा ही नहीं होती।'

'लगता है आप चाय के मामले में काफी समझ रखते हैं।' कहते हुए चंदन ने कुरसी की पीठ से टेक लगा ली।

'हम एक बात कह रहे हैं।' राधेलाल बोला—'और भाई साहब, हम लोग तो बस बात ही कर सकते हैं, चाय के फ्लेवर की पहचान हम लोगों को कहां है? हम लोगों के लिए चाय चाय है, ससुरी कैसी भी हो। चाय के फ्लेवर का फर्क तो दरअसल अंग्रेज जानता था। अंग्रेज की बात अंग्रेज के साथ ही चली गई। क्या कहते हैं?'

आत्मकथा

मोहन राकेश

मुझे वर्षा बहुत प्रिय है और मैं किसी वर्षा के दिन से ही अपने जीवन की कहानी आरंभ करना चाहता हूं। मेरी कल्पना मुझे बहका रही है। मस्तिष्क में एक चित्र बन रहा है, पुराने घर की छत पर वर्षा की बूंदें पड़ रही हैं। वर्षा की बूंदों से जहां-तहां बुलबुले बन जाते हैं, जो तैरते हुए एक कोने की ओर, जिधर ढलान है, चले जाते हैं। हवा हलके-से दबाव से एक दरवाजे को खोलकर एक कमरे में प्रवेश करती है और उसके स्पर्श से सिहरकर एक शिशु मां के वक्ष के साथ सट जाता है, जो कि उसके लिए एक विस्तीर्ण उष्ण सुखद प्रदेश है और जिसकी सीमाएं अभी उसे ज्ञात नहीं···

यह वास्तविकता भी हो सकती है, परंतु चेतन रूप से मेरे लिए यह कल्पना ही है। वास्तविकता का मुझे इतना ही स्मरण है कि हमारा वह पुराना घर बहुत अंधेरा था, शायद तंग भी था, क्योंकि मुझे उस घर में दो मंजिलों का और दो ही कमरों का होना याद है, यद्यपि तब मुझे घर का इतना विस्तार बहुत बड़ा लगा करता था। उस घर निचली मंजिल के कमरे में एक अलमारी थी, जिसमें मां की कई सुंदर और रहस्यमय चीजें रखी रहती थीं, जिन्हें हाथ में लेकर तोड़ने की मेरी उत्कट इच्छा रहा करती थी। उसी कमरे में एक ऊंची सामान रखने की जगह बनी हुई थी, जहां पर पिता का सितार रखा रहता था। मैं प्रायः वह सितार लेने के लिए हठ किया करता था। दादी मुझे बहलाने के लिए कहती थीं–'अभी नहीं, जब तू बड़ा होगा, तब तुझे सितार देंगे।'

और मैं एड़ियां उठाकर यथासंभव लंबा होने की चेष्टा करता हुआ यह प्रमाणित करना चाहा करता था कि अब मैं पहले से बड़ा हो गया हूं, अतः मुझे सितार मिल जाना चाहिए।

हमारे उस घर के आगे भी गली थी और बाईं ओर भी। बाईं ओर की गली हमारे घर के सिरे पर बाल कौर के घर के आगे समाप्त हो जाती थी, जो हमारे घर के साथ सटा हुआ था। बाल कौर के घर के सामने टाइलों का छोटा-सा दालान था। बिजली

जली रहती थी, हम प्रायः रात को उस दालान में खेला करते थे। परंतु हम वहां उन्हीं दिनों खेल पाते थे, जब दादी की बाल कौर के साथ मित्रता रहती थी। जब उन दोनों की लड़ाई हो जाती थी, तो हमारा वहां खेलना बंद हो जाता था, और उनकी लड़ाई अकसर ही हो जाया करती थी। एक बार लड़ाई हो जाने पर कई-कई सप्ताह तक उनका वैमनस्य बना रहता था, और अंत में किसी त्योहार या उत्सव के दिन दोनों में से कोई एक दूसरी को कुछ मिठाई या फल भिजवा देती थीं, जिससे पुनः उनके मित्रता-काल का आरंभ हो जाता था। इस मित्रता-काल के आरंभ होते ही हम लोग बाल कौर के दालान में खेलने पहुंच जाते थे। लड़कियां 'किक्कली' का, या ठीकरियां और छोटे-छोटे पत्थरों को उछालकर उलटे हाथ पर लेने और फिर उलटे हाथ के उछाल पर सीधे हाथ में दबोचने का खेल खेलने लगती थीं, या आपस में बांहें उलझाकर गाने लगती थीं : *विमला को लेने आते हैं, आते हैं ठंडे मौसम में।*

मैं तब तक ठीक तरह से चलना नहीं सीख पाया था, यद्यपि बोलना सीख गया था। मैं अस्थिर ढंग से खड़ा होकर दालान में एक पैर से प्रहार करता हुआ बोला करता था–'कबड्डी, कबड्डी, कबड्डी···।'

अपनी वह छोटी-सी गली मेरे लिए संसार का अभ्यंतर भाग था, और गली के बाहर का बाजार, जहां मेरे ताऊजी की पंसारी की दुकान थी, संसार का बाह्य भाग, जहां जाना खतरे से खाली नहीं था। जब मैं एक-डेढ़ वर्ष का था, तो एक दिन मेरी बहन, जो मुझसे डेढ़ साल बड़ी थी, मुझे उठाकर ताऊजी की दुकान की ओर ले चली। गली से निकलकर बाजार में आते ही उसने दाईं ओर से एक गौओं के झुंड को आते देखा। झुंड बहुत पास आ गया था, अतः संभवतः डरकर उसने मुझे वहीं फेंक दिया और स्वयं भाग गई। गौएं एक-एक करके मेरे ऊपर से गुजरने लगीं। मैं उस समय बहुत सहम गया था, पर पूरी तरह चेतन था। गौओं के हिलते हुए स्तनों को नीचे से हाथ बढ़ाकर पकड़ लेने को मेरा मन होता था, परंतु बड़े-बड़े वक्र स्तंभों की पंक्तियों की तरह चलकर जाती हुई अनंत टांगें मुझे निश्चल बनाए हुए थीं। गौएं मेरे ऊपर से गुजरती गईं–किसी का पैर मेरे शरीर पर नहीं पड़ा। बहन मुझे वहां छोड़कर गली के अंदर मां को बताने चली गई थी कि मैं गौओं के नीचे आ गया हूं। कुछ देर बाद जब मुझे वहां से उठाया गया, तो गौओं की टांगों से मुक्त होकर और मां के वक्ष के आश्रय का विश्वास पाकर मैंने रोना आरंभ कर दिया।

गली, वह छोटी-सी सुरक्षित दुनिया भी प्रकटतः उतनी सुरक्षित नहीं थी, क्योंकि गली की अधिकांश बूढ़ी स्त्रियों के विषय में दादी हमें जो कुछ बतलाया करती थीं, उससे हमारी यही धारणा बनी हुई थी कि वे सब जादू करने वाली मानवेतर जाति

की स्त्रियां हैं, जो छोटे-छोटे बच्चों को पकड़कर अपने घरों की कोठरियों में बंद कर लेती हैं। उन स्त्रियों में एक को सब लोग बुआ कहकर पुकारते थे। उसका घर गली के सिरे पर था। उसका लड़का उस इलाके का सबसे बड़ा पहलवान और शरीफ घरों की बहू-बेटियों के लिए खतरा समझा जाता था। उसका नाम कुछ और था, पर लोग उसे 'ढग्गा' कहकर पुकारते थे। पंजाबी में 'ढग्गा' शब्द का अर्थ है सांड़। ढग्गा जब गली में आता था, तो थड़ों पर बैठी हुई युवतियां जल्दी-जल्दी घरों के अंदर चली जाती थीं। ढग्गे से लोगों को आशंका उसके स्वास्थ्य के कारण ही थी, या किन्हीं विशेष घटनाओं के कारण, यह मैं नहीं कह सकता। इतना आभास मुझे है कि गली में लोग उसके असाधारण स्वास्थ्य के कारण ही उससे जलते थे और उसी वजह से उसके विषय में टीका-टिप्पणी न करके चुप रहते थे। बाहर बाजार में बाईं ओर थोड़ा आगे जाकर चौक में उसकी पान की दुकान थी, जो उस इलाके के हिंदू बदमाशों का अड्डा समझी जाती थी। और चीजों की तरह बदमाशी का भी सांप्रदायिक विभाजन था और इस दिशा में भी दूसरे संप्रदाय को मात करने के ठोस प्रयत्न किए जाया करते थे।

बुआ के अतिरिक्त एक और स्त्री गुरदेई थी, और-और भी कितनी ही स्त्रियां थीं, जिन्हें मैं तब जादू करने वाली समझकर उनसे डरा करता था। एक तरह से अपनी मां और दादी को छोड़कर शेष सभी स्त्रियां, जिनमें हमारी ताई भी सम्मिलित थीं, मेरे लिए भय का विषय थीं। अब मुझे लगता है कि गली के कुछ दूसरे बच्चे, जो मेरी दादी से दूर-दूर रहा करते थे, शायद यह विश्वास रखते थे कि वह भी जादू करने वाली है और बच्चों को पकड़कर अंधेरी कोठरी में डाल देती है!

जीवन में जो पहली शिक्षा मुझे प्राप्त हुई, वह यही थी कि घर के बाहर (और इस अर्थ में ताई का कमरा भी घर के बाहर ही था) कोई भी व्यक्ति स्नेह और विश्वास का पात्र नहीं; और घरों के बच्चों में बुरी आदतें होती हैं; भिखमंगे बच्चों को थैलियों में बंद करके ले जाते हैं; कोई यदि चीज दे, तो नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि उसमें कुछ मिला रहता है, जो बीमार बना देता है; अच्छी चीज गली में जाकर नहीं खानी चाहिए, क्योंकि नजर लग जाती है; और लोगों की छाया से बचना चाहिए, क्योंकि न जाने किसकी छाया बुरी हो और किसी रोग को जन्म दे दे। वह जीवन की कल्पना कुछ ऐसी थी, जैसे चारों ओर बुने हुए मकड़ी के जाले के अंदर थोड़ी-सी ही खाली जगह थी, जहां हम रह रहे थे; जरा भी हिलने-डुलने में उस जाले में फंस जाने की संभावना थी, अतः सुरक्षा इसी में थी कि अपने कोने में यथासंभव निश्चेष्ट रहा जाए। आमोद खतरे का विषय था। साहस खतरे का विषय था। जीवन का कोई भी प्रयत्न खतरे का विषय था। डिबिया में बंद कीड़े की तरह जीना ही जीने का एक रास्ता था।

मेरे बाबा वल्लभ संप्रदाय के वैष्णव थे। मेरे जन्म के पहले ही उनकी मृत्यु हो चुकी थी। उन्होंने दो विवाह किए थे। ताऊ जी उनकी पहली पत्नी से थे। शायद इसी कारण दादी का ताऊ जी के परिवार से स्नेह नहीं था, और क्योंकि अब ताऊ जी ही दुकान पर बैठते थे, अतः उनके प्रति दादी के हृदय में प्रतिद्वंद्विता का भाव भी था। वह अपने को दुकान की असली मालकिन समझती थीं और उन्हें सदा यह शिकायत रहती थी कि ताऊ जी दुकान की बिक्री का उन्हें ठीक हिसाब नहीं देते। इस बात पर प्रायः ताई के साथ उनकी चखचख हो जाया करती थी। वास्तविकता यह थी कि बाबा के जीवन के अंतिम दिनों में बाजार में मंदी आ जाने के कारण दुकान पर काफी ऋण हो गया था, जिसे चुकाने के लिए मकान गिरवी रख दिया गया था। दुकान की आय का कुछ भाग भी ऋण चुकाने में चला जाता था। परंतु दादी घोषणा करके कहा करती थीं कि ताऊ जी दुकान की आय गुप्त रूप से अपनी पत्नी को लाकर दे देते हैं, और ताई उत्तर में वैसे ही सुनाया करती थीं कि उनके पति दादी के परिवार का पालन करने के लिए अपने परिवार को भूखा रख रहे हैं, और कि वे मूर्ख हैं, जो ऐसा करते हैं, क्योंकि दादी का अपना लड़का कमाने लायक है, जिसे अपनी मां और परिवार का बोझ अब स्वयं संभालना चाहिए।

बाबा की मृत्यु के समय मेरे पिता एल-एल०बी० में पढ़ रहे थे। इसमें संदेह नहीं कि उनके इतना पढ़ लेने का श्रेय दादी की महत्त्वाकांक्षा को ही था। बाबा की मृत्यु के अनंतर उस विकट परिस्थिति में भी उनका अध्ययन जारी रहा, इसका श्रेय भी दादी के हठी स्वभाव को था। वह प्रतिदिन अमृतसर से लाहौर पढ़ने जाते थे। उनके पास एक ही सफेद कोट था, जिसे मां इतवार के दिन धो दिया करती थीं। वह सवेरे सात बजे घर से खाकर जाते थे और फिर बारह घंटे बाद घर आकर खाते थे। इसका कारण घर की आर्थिक स्थिति ही नहीं, उनका धार्मिक नियम भी था। उन्होंने सोलह वर्ष की आयु में ही 'ब्रह्म संबंध' ले लिया था। वल्लभ संप्रदाय में 'ब्रह्म संबंध' ले लेने वाला व्यक्ति भगवदर्पित समझा जाता है और वह घर के या किसी ब्राह्मण के चौके के अतिरिक्त और कहीं का बना भोजन नहीं करता। पानी भी वह कुएं में से शुद्ध पात्र में अपने या ब्राह्मण के हाथ का खींचा हुआ ही पीता है। इस तरह पिताजी के लिए वह संयम आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था। गरमी में भी बारह घंटे बिना पानी पिए रहना एक तरह से तपस्या ही थी। इसका उस आयु में ही उनके स्वास्थ्य पर प्रभाव दिखाई देने लगा था।

आज और कल के बीच

शब्द प्रयोग : मोहन राकेश

एक :

राकेश खिड़की के पास।

एक मिनट

"आज की अस्थिरता, नकारात्मकता और तोड़-फोड़। विद्यार्थी- मजदूर अपनी जगह परेशान···क्या आज तक की जिंदगी सचमुच भुलावे की जिंदगी थी और किसी चीज का भी कोई अर्थ नहीं है?"

राकेश खिड़की से हटकर मेज के पास आ जाता है।

शब्द : 'लगता है दिमाग में एक जंगल उग आया है।'

दो :

क–जंगल। राकेश छत से जंगल की तरफ देखता हुआ।

ख–जंगल में भटकते कदम।

ग–खुला, सूना आकाश।

घ–एक छोटा-सा बच्चा, नंगा घूमता हुआ।

च–उड़ते पक्षी।

दो मिनट

'और सचमुच यह विश्वास हो जाता, तो मन में भटकन तो न बनी रहती, परंतु भटकन नहीं जाती क्योंकि कुछ ऐसा है जो गहरे सूनेपन के अंदर से भी एक अर्थ का आभास देता रहता है। वह कुछ, जिसकी फड़फड़ाहट मन के किसी कोने में हर वक्त बनी रहती है।'

शब्द : 'मन उस फड़फड़ाहट को पकड़ना चाहता है, उसे नाम देना चाहता है।'

तीन :

राकेश आरामकुर्सी पर बैठा एक तस्वीर देख रहा है।

एक मिनट

"मगर बहुत-बहुत-से प्रभाव हैं जो इस फड़फड़ाहट को दबा देते हैं। रोजमर्रा

की जिंदगी। मिलने वाले लोग। कंधों पर एक पूरा शहर। दिमाग पर चलता स्टीम-रोलर। राकेश तस्वीर को तिपाई पर फेंक देता है।'

शब्द : 'अंधेरा! अंधेरा! अंधेरा! क्या इस अंधेरे का कुछ उत्तर हो सकता है?'

चार :

क–अंधेरे में हिलती लालटेन

ख–शहर की बत्तियां।

ग–शहर की भीड़-भाड़।

घ–राकेश सड़क पार करता हुआ। मोटरों की आवाजें।

दो मिनट

"एक बत्ती और झिलमिल विश्वास। कई बत्तियां और भ्रांति। भीड़। भीड़ का जंगल। उस जंगल में खोया हुआ आदमी।'

शब्द : 'आदमी नहीं, शब्द···।'

पांच :

आधा मिनट

राकेश मेज के पास खड़ा कुर्सी को पीठ से पकड़े हिला रहा है।

बहुत कोशिश करने पर भी वह एक शब्द नहीं मिलता, जो आदमी की पूरी तलाश और तलाश के हर उत्तर को व्यक्त कर सके। राकेश कुर्सी हिलाना छोड़ देता है।

शब्द : 'और शब्द की जगह सामने आ जाती हैं आंखें।'

छह :

क–कुछ जोड़ी आंखें–अलग-अलग भाव लिए।

ख–अंधेरा और उसमें रुकती गाड़ी की आवाज।

ग–एक अंधे की झपकती आंखें।

घ–मातमी चेहरे।

डेढ़ मिनट

"कहना चाहता हूं कि यह है जिंदगी। उत्साह होता है। पर उस उत्साह को रौंद जाती है कोई दुर्घटना। आदमी एक अंधे की तरह आंखें झपकता रह जाता है। जिंदगी तब नजर आती है सिर्फ एक तस्वीर मातम की–एक नहीं, कई-कई तस्वीरें मातम की।

शब्द : 'एक छटपटाहट होती है तब हर चीज से अपने को अलग कर लेने की।'

एक मध्यम मार्ग का राग अलापता रहना चाहता है, या कि अपने लिए जीवन की हलचल से दूर एक भुलावे का निर्जन तट खोजना चाहता है? हम कह सकते हैं कि परिस्थिति को इस रूप में देखना भी एक पूर्वग्रह है। बात वास्तव में ऐसी नहीं है। जहां यह आवश्यक है कि लेखक का जीवन के संबंध में एक निश्चित दृष्टिकोण हो, और वह मानव-जीवन के व्यापक संघर्ष से हट-बचकर चलता हुआ जीवन-भर अनुभूति की वीरान पगडंडियां ही न खोजता रहे, वहां यह भी अपेक्षित है कि वह जीवन की हर घटना और परिस्थिति का मूल्यांकन स्वतंत्र रूप से करे और जो भी मूल्यांकन वह कर सके, उसे साहसपूर्वक दूसरों के सामने रख दे। पार्टी व्हिप से राजनीतिक स्ट्रेटेजी का निर्णय तो किया जा सकता है, परंतु पार्टी व्हिप से साहित्य रचना नहीं हो सकती, क्योंकि साहित्य-रचना एक स्ट्रेटेजी नहीं है, एक मूल्यांकन है। मूल्यांकन गलत हो, यह और बात है। साहित्यकार में इतना साहस भी होना चाहिए कि वह यह स्वीकार कर सके कि उसका किया हुआ मूल्यांकन ठीक नहीं था। परंतु राजनीतिक स्ट्रेटेजी तो हर छह महीने के बाद बदलती है। यदि साहित्य-रचना का संबंध अनिवार्य रूप से उसके साथ जोड़ दिया जाए तो आज की लिखी हुई कविताएं, कहानियां और उपन्यास कल बेकार होंगे और कल की रचनाएं परसों कूड़ा हो जाएंगी। और यह नहीं कि साहित्यिक आंदोलन के इतिहास में ऐसा हुआ नहीं। इसके कई उदाहरण हमारे सामने हैं। यह स्थिति इसलिए पैदा होती है कि राजनीतिक जीवन में कार्य करने वाले व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि विचारधारा और स्ट्रेटेजी एक ही चीज के दो पहलू तो हैं, पर दोनों में एक बहुत बड़ा अंतर भी है। राजनीति के क्षेत्र में कई बार स्ट्रेटेजी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है पर साहित्य के क्षेत्र में महत्त्व विचारधारा का ही है। इसलिए राजनीतिज्ञ यह गलत मांग करता है कि साहित्यकार उसकी हर स्ट्रेटेजी में उसका साथ दे। साहित्यकार अपने लिए यह स्वतंत्रता चाहता है कि वह राजनीतिज्ञ की गलत स्ट्रेटेजी को गलत कह सके, उसकी भूल उसे बता सके, उससे असहमत हो सके। किसी भी राजनीतिक दल के अंतर्गत अनुशासन का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि एक निश्चित विचारधारा रखते हुए भी साहित्यकार उस तरह के अनुशासन से मुक्त रहे। यही उसकी वास्तविक स्वतंत्रता है, और यह स्वतंत्रता ही उसकी रचना को शक्ति देती है।

इसके अतिरिक्त प्रश्न और भी हैं—साहित्यकार के राज्याश्रय स्वीकार करने या न करने का प्रश्न, और साहित्यकारों के अपने सामूहिक संगठन का प्रश्न इत्यादि। राज्याश्रय के प्रसंग में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि यदि राज्य द्वारा ऐसी

परिस्थितियां उत्पन्न की जा सकती हैं कि एक लेखक राज्य द्वारा दी गई सुविधाओं का उपभोग करता हुआ भी अपने व्यक्तित्व और विचारों की स्वतंत्रता को बनाए रख सके, और उस पर कोई ऐसा दायित्व न पड़ता हो, जिससे लेखक के रूप में उसकी आवाज कमजोर होने लगे, तो उसे स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। परंतु कई देशों के अनुभव इस बात को प्रमाणित करते हैं कि ऐसा हो नहीं पाता। उस स्थिति में यह कहना होगा कि लेखक का व्यक्तित्व निस्संदेह उन सब सुविधाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो राज्य उसे दे सकता है···।



कमलेश्वर

जन्म : 6 जनवरी, 1932, मैनपुरी (उ.प्र.)

शिक्षा : एम.ए. (हिंदी), इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

कहानी-संकलन : राजा निरबंसिया, कस्बे का आदमी, बयान, जार्ज पंचम की नाक, खोई हुई दिशाएं, मांस का दरिया, इतने अच्छे दिन, कोहरा, [illegible] की रेल, समग्र कहानियां, दस प्रतिनिधि कहानियां, [illegible] मुबारक।

उपन्यास : एक सड़क [illegible] गलियां, लौटे हुए मुसाफिर, तीसरा आदमी, [illegible] हुआ आदमी, काली आंधी, आगामी अतीत, [illegible], सुबह दोपहर शाम, डाकबंगला, कितने [illegible] एक और चन्द्रकांता (दो भाग)।

यात्रा-वृत्तांत : [illegible] देश-देशांतर।

आत्मकथा : जो मैंने [illegible] जलती हुई नदी।

विविध : नई कहानी की [illegible] पन्ना, बंधक लोकतंत्र, सिलसिला थमता नहीं, [illegible], दस्तक देते सवाल, मेरे साक्षात्कार, अपनी निगाह में आदि।

पत्रकारिता : इंगित, संकेत, नई कहानियां, सारिका, श्रीवर्षा, गंगा, कथायात्रा, दैनिक जागरण, दैनिक भास्कर का संपादन।

सीरियल लेखन : चन्द्रकांता, आकाशगंगा, युग, रेत पर लिखे नाम, बिखरे पन्ने, दर्पण आदि।

फिल्में : आंधी, मौसम, अमानुष, द बर्निंग ट्रेन, राम बलराम, [illegible] नटवरलाल, सारा आकाश, [illegible] आदि।

संपादन : [illegible] खिलेगा आदि।

स्मृति-शेष : [illegible] 2007

किताबघर प्रकाशन

ISBN—978-93-82114-22-2